अन्तर्द्वन्द्वों के पार

गोम्मटेश्वर बाहुबली

लक्ष्मीचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 406
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

अन्तर्द्वन्द्वों के पार
गोम्मटेश्वर बाहुबली
(इतिहास ललित साहित्य)

लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47 कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-110001
प्रथम संस्करण 1979 मूल्य 25 रुपये

□

ANTARDVANDVON KE PAAR
GOMMATESHVAR BAHUBALI
(*History Belles Lettres*)
by LAKSHMI CHANDRA JAIN

B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001
First Edition 1979 Price Rs 25.00

मुद्रक
शब्दशिल्पी
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आशीर्वचन

सदा से हमारा यह विश्वास रहा है कि विश्व के धर्मों मे एकता के कुछ सबल सूत्र विद्यमान हैं, जिनकी ओर मनीषियो का अपेक्षित ध्यान नही गया है। इन सूत्रो के अनुसन्धान से विश्व की बहुरगी सस्कृतियो और धर्मों की अनेकता मे एकता के सोपान-पथ का सृजन किया जा सकता है। आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का व्यक्तित्व एक ऐसी आधारशिला है, जिसके ऊपर विश्व के समस्त धर्मों का एक सर्वमान्य प्रासाद खडा किया जा सकता है।

प्राय समस्त धर्मों मे आदिदेव ऋषभनाथ का विभिन्न नामो से स्मरण किया गया है। उनके इतिवृत्त के चित्र मे भरत-बाहुबली के रगो से पूर्णता आई है। भरत और बाहुबली दोनो महामानव थे। दोनो के चरित्र स्वतन्त्र है, किन्तु दोनो परस्पर पूरक भी हैं। बाहुबली का चरित्र बहुरगी है और उसका प्रत्येक रग चटकदार है। उनकी महानता आकाश की ऊँचाइयो को छूती है। उनके जीवन के हर मोड पर एक नया कीर्तिमान स्थापित होता चलता है।

वे इस युग के प्रथम कामदेव (त्रिलोकसुन्दर) थे, अत गोम्मटेश्वर कहलाते थे। सुन्दर थे, सौम्य थे, साथ ही अप्रतिम बली थे। इसलिए वे बाहुबली कहलाते थे। वे अपने अधिकारो की रक्षा के प्रति सदा सजग रहते थे। अधिकारो की रक्षा करने का साहस और सामर्थ्य भी थी, किन्तु कर्त्तव्यो के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। भरत दिग्विजय कर सार्वभौम सम्राट् का विरुद प्राप्त करना चाहते थे। बाहुबली का स्वतन्त्र अस्तित्व इसमे बाधक बन रहा था। प्रश्न राज्य-लिप्सा का न रहकर शासनतन्त्र की निर्बाध सत्ता का बन गया था। बाहुबली के मन मे भरत की अवज्ञा के भाव नही थे, किन्तु पिता से प्राप्त राज्य का उपभोग और उसकी सुरक्षा उनका अधिकार था। उस अधिकार की रक्षा करना ही अब उनका कर्त्तव्य बन गया था। दोनो के अपने दृष्टिकोण थे, दोनो को ही अपने पक्ष के औचित्य का आग्रह था। इस आग्रह ने युद्ध के अतिरिक्त सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये। एक सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के साथ एक नगर के साधारण राजा का युद्ध करने का यह दुस्साहस भले ही रहा हो, किन्तु अपने अधिकारो की रक्षा के लिए, अपनी स्वतन्त्रता की

रक्षा करने के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने का यह प्रथम उदाहरण था।

बुद्धिसागर आदि मन्त्रियो के बुद्धि कौशल से हिंसक और सहारक युद्ध की विभीषिका टल गई। दोनो भाईयो के लिए दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध और मल्ल-युद्ध—ये तीन युद्ध निर्धारित हुए और इन युद्धो के परिणाम पर ही हार-जीत का निर्णय हुआ। विश्व-इतिहास मे सम्भवत ऐसे निर्णायक अहिंसक युद्ध का दृष्टान्त अन्यत्र नही मिलता। इसे हम विश्व मे प्रथम अहिंसक युद्ध कह सकते हैं।

उस क्षण बाहुबली के मन मे अधिकार ही कर्त्तव्य बन गया था। उन्होने दृष्टि-युद्ध और जल-युद्ध मे विजय प्राप्त करली थी, किंतु मल्ल-युद्ध शेष था। वह अन्तिम और निर्णायक युद्ध था। दोनो भ्राताओ मे मल्ल-युद्ध हुआ। दोनो ही मल्ल-विद्या के मँजे हुए खिलाडी थे। बाहुबली भरत पर छाते गए, उन्होने फुर्ती से भरत को दोनो हाथो से उठा लिया। चाहते तो जमीन पर दे मारते, किन्तु नही, उन्होने धीरे से भरत को उतारा और विनय से उच्च आसन पर खडा कर दिया। इस प्रकार उन्होने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अब कर्त्तव्य ही उनके लिए अधिकार बन गया।

भरत चक्रवर्ती थे। तीनो युद्धो मे पराजय उनका सार्वजनिक अपमान था। सत्ता की रक्षा करना शासन का अधिकार है, औचित्य का विवेक उसमे बाधक नही बनता। वहाँ अधिकार की रक्षा करना ही कर्त्तव्य है। इसी भावनावश भरत ने बाहुबली के ऊपर चक्र चला दिया। बाहुबली के तन को तो चोट नही लगी, पर मन को चोट पहुँची। जनता ने भरत के इस कृत्य की निन्दा की, क्योकि उसने एक चक्रवर्ती के अधिकार की दृष्टि से नही, सामान्य जन के कर्त्तव्य की दृष्टि से इस घटना को लिया।

बाहुबली इस घटना से बेहद खिन्न हो गये। खिन्नता की तीव्रता ने उनके मन मे वैराग्य भर दिया। जमीन, राज्य, भरत—सभी से अब उन्हे कोई मोह नही रहा, वे श्रमण मुनि बन गए। खडे होकर निर्जन स्थान मे अत्यन्त कठोर तप करने लगे, ऐसा तप जो कभी किसी ने नही किया। एक वर्ष बीत गया इसी अवस्था मे, किन्तु केवलज्ञान (परम ज्ञान) नही हुआ। खिन्नता की रेख कि राज्य तो छोड दिया, किन्तु दो पैर तो अभी भरत की भूमि पर ही खडे हैं। भरत ने आकर सरल भाव से, विनयसे, क्षमा माँगी तो बाहुबली को उसी क्षण केवलज्ञान हो गया। बाहुबली के मुनि बनने के समय भी भरत ने क्षमा माँगी थी, किन्तु तब बाहुबली के मन मे खिन्नता का ज्वारभाटा उमड-घुमड रहा था। धीरे-धीरे खिन्नता का वेग कम होता गया। अब तो खिन्नता की रेख मात्र बाकी थी, भरत द्वारा क्षमा माँगने पर वह भी मिट गई।

बाहुबली सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गए। वे कुछ ही वर्ष बाद शेष कर्मों का नाश करके मुक्त हो गए। वे इस काल मे सर्वप्रथम मुक्त हुए।

बाहुबली की यह घटना जैन समाज मे जानी-पहचानी है। किन्तु इस घटना का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण कभी नही हो पाया। उन्ही गोम्मटेश्वर बाहुबली की 57 फुट उत्तुग विशाल आकार की एक अद्भुत लावण्यमयी मूर्ति श्रवणबेलगोल मे बिगत 1000 वर्षों से विराजमान है। उस मूर्ति के कारण ही यह स्थान जगद्विख्यात तीर्थ और लक्ष-लक्ष जनो की श्रद्धा का केन्द्र पावन तीर्थ बन गया है। किन्तु इस प्रस्तर मूर्ति और क्षेत्र का पुरातात्त्विक, कलात्मक, ऐतिहासिक, एव सास्कृतिक दृष्टिकोण से कभी विश्लेषण नही किया गया।

धर्मानुगामी श्री लक्ष्मीचन्द्रजी साहित्य-जगत् मे सुपरिचित हैं। लेखनी पर उनको अधिकार प्राप्त है। उनके लिखने की शैली कथ्य के रहस्य की परतें उतारती हुई प्रतीत होती है। उनकी शब्द-सयोजना मे कला परिलक्षित होती है। सन् 1981 मे होने वाले गोम्मटेश्वर बाहुबली के सहस्राब्द महामहोत्सव के उपलक्ष्य मे श्री लक्ष्मीचन्द्र ने प्रस्तुत अनुसन्धानपूर्ण पुस्तक '**अन्तर्द्वन्द्वो के पार गोम्मटेश्वर बाहुबली**' अत्यन्त रोचक और विश्लेषणात्मक शैली मे लिखी है। इससे मूर्ति और क्षेत्र दोनो के सम्बन्ध मे अनेक नवीन ज्ञातव्य रहस्यो पर प्रकाश पडा है। इस कृति के लिए विद्वान् लेखक साधुवादार्ह है।

शुभाशीर्वाद।

अजमेर
10-4-79

— एलाचार्य विद्यानन्द

स्वस्ति-वाक्

भगवान गोम्मटेश्वर मूर्तिप्रतिष्ठा-सहस्राब्दि-महोत्सव के उपलक्ष्य मे क्षेत्र के पौराणिक, ऐतिहासिक एव सामयिक परिस्थिति को चलचित्र के माध्यम से प्रचार करने के लिए **'अन्तर्द्वन्द्वों के पार . गोम्मटेश्वर बाहुबली'** का प्रस्तुतिकरण आपका एक महान कार्य बन गया है। आपके द्वारा लिखित इस कृति को हमने आद्योपान्त पढा। विषय सामग्री पुरातन होने पर भी सकलन की कुशलता और प्रस्तुतिकरण की क्षमता अनोखी है।

आपने इस ग्रन्थ मे श्रवणबेलगोल के बारे मे कई दृष्टिकोणो से खोजपूर्ण अध्ययन के द्वारा सरल, सुबोध भाषा मे, नवीनतम शैली मे इस क्षेत्र के इतिहास को प्रस्तुत किया है। मुझे इस विषय का हर्ष है। निस्सन्देह इस क्षेत्र के इतिहास को जिस खूबी से आपने प्रस्तुत किया है, उस तरह आज तक किसी ने भी प्रस्तुत नही किया।

अध्यायो के वर्गीकरण की क्रमबद्धता और शीर्षक पाठको के लिए अत्यन्त आकर्षक सिद्ध होगे।

शिलालेखो के अध्ययन के लिए चार काल्पनिक पात्रो के एक दल को आपने चित्रित किया है, वह अपूर्व परिकल्पना है। इसे हम आपके अनोखे चिन्तन की अभिव्यक्ति मानते है, जिसे पढकर हमे इतना हर्ष हुआ कि मानो वे चारो चन्द्रगिरि पर सभाषण करते दिखाई दे रहे हैं।

परिशिष्टो का सकलन भी एक अभूतपूर्व कार्य हुआ है।

—भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी, श्रवणबेलगोल

प्रस्थापना

इतिहास की दृष्टि मूलत घटनाओ पर जाती है। जो घटित हो गया वही परम्परा से जानकर और मानकर कि यह 'इति-ह-आस'—'यह ऐसा हुआ'—लिपिबद्ध कर दिया गया। आज इतिहास की यह दृष्टि विकसित होकर घटनाओ की पृष्ठभूमि का भी आकलन करती है। घटनाएँ जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित होती हैं उनके आचार-विचार और उनकी प्रेरक भावनाओ के उत्स की खोज करती हैं। तब व्यक्तियो का परिवेश और उनका मनोजगत् इतिहास के अग बन जाते हैं। इस प्रकार इतिहास रोमाचक हो जाता है, 'रोमास' बन जाता है। वास्तव मे हमारा प्राचीन पुराणकार इसी प्रकार के इतिहास का सर्जक है। इसी प्रकार के आधार पर जब कोई कवि महाकाव्य की रचना करता है तो उसकी कल्पना के पख प्रसार पाकर इन्द्रधनुषी रगो से रजित हो जाते हैं। कवि और साहित्यकार के मन मे जब इन रगो की छटा बस जाती है तो वह मूल वस्तु के सार-तत्त्व को रगो का सस्पर्श देकर कहानी, उपन्यास और नाटक लिखता है। कोरे तथ्य तब प्रीतिकर और प्रतीतिकर सत्य बन जाते हैं। अतीत के विषय मे अन्त अनुभूति प्रमाण बन जाती है।

प्रत्येक अतीत से वर्तमान उपजता है, और प्रत्येक वर्तमान भविष्य का सर्जक है। इतिहास का यह चक्र काल की ध्रुवता की धुरी पर घूमता है। दर्शन की भाषा मे सत् के अस्तित्व अर्थात् 'सत्य' का यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-मय रूप है।

अतीत के किस काल-खण्ड के छोर पर प्रारम्भ हुआ होगा वह ध्रुव जिसके चौदहवें मनु या कुलकर नाभिराय थे ? स्वय नाभिराय के पुत्र, प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ, युग-प्रणेता पुराण-पुरुष हैं। उनके छोटे पुत्र बाहुबली की कथा इतिहास के सैकडो-हजारो युगो को पार करती हुई, और उत्तर-दक्षिण के भूमि-खण्डो के प्राचीरो को लाँघती हुई, एक दिन आ पहुँची दक्षिण कर्नाटक के कलबप्पु (कटवप्र) पर्वत के मनोरम शिखर पर, एक विशालकाय प्रस्तर-प्रतिमा के रूप मे जिसकी मुख-छवि घाटी के कल्याणी तीर्थ, धवल सरोवर (बेलगोल) मे प्रतिबिम्बित हो गई।

आज से एक हजार वर्ष पहले कर्नाटक के महाप्रतापी, महाबलाधिप 'सत्य युधिष्ठिर' चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर बाहुबली की इस मूर्ति की स्थापना अपने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के सान्निध्य मे की। प्रतिष्ठापना का सहस्राब्दि महोत्सव हमारी पीढी सन् 1981 के प्रारम्भ मे श्रवणबेल्गोल मे मना रही है—तिथि और लग्न शोध कर। इस प्रकार हमारा आधुनिकतम काल जुड जाता है जीवन्त इतिहास के प्राचीनतम पौराणिक काल से। अनादि-काल से जीवन-मरण और आवागमन के चक्रवात मे हमने मानव के और भी अनेक अभ्युदय देखे होगे, इतिहास-निर्माण के हम सहभागी बने होगे, किन्तु पूर्वभव का वह सब हमे पता नही, याद नही। सौभाग्य का यह क्षण तो हमारे अपने युग की आपबीती बन रहा है। इसके स्वागत मे हमने पलक-पाँवडे बिछा दिए हैं।

सहस्राब्दि समारोह के अवतरण के लिए, उसके पद-निक्षेप के लिए, भावनाओ की अनेक-अनेक रग-बिरगी अल्पनाएँ रची जा रही है। इन अल्पनाओ के सर्जक, कर्मठ नेता श्री साहू शान्तिप्रसादजी हमारे बीच नहीं रहे किन्तु धर्मगुरु उपाध्याय (अब एलाचार्य) श्री विद्यानन्दजी महाराज और श्रवणबेलगोल के अत्यन्त निष्ठावान् और क्रियाशील भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी स्वामी के साथ विचार-विमर्श करके जिन योजनाओ का सूत्रपात वह कर गए, वे हमारी प्रेरणा-स्रोत बन गईं। सयोग ऐसा बना कि भारतीय ज्ञानपीठ के वर्तमान अध्यक्ष श्री साहू श्रेयासप्रसाद जैन ने उन अल्पनाओ के दायित्व-विभाजन मे एक कची मेरे हाथ मे थमा दी और कहा कि भगवान बाहुबली की कथा के रूप मे एक अल्पना की सरचना मैं करूँ। उनकी भावना रही है कि यह कथा ऐसी शैली मे लिखी जाए कि भगवान बाहुबली के रोमाचकारी जीवन के विभिन्न आयाम सहजता के साथ उभर कर आ जायें और आज के पाठक को आकृष्ट कर सकें। काश, ऐसी शैली मैं प्राप्त कर पाता!

लेकिन, शैली ही एक ऐसी वस्तु है जो माँगी नही जा सकती। वह तो लेखक की निजता की अभिव्यक्ति है। लेखक मे निजता और विशिष्टता है तो है, नही तो नही है, या फिर जितनी भी है। अत अपने निजत्व को ही पाथेय बनाकर मैं चल पडा। इस कथा का पूरा विस्तार आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण मे उपलब्ध है—इतना व्यापक विस्तार कि सँभाल पाना कठिन है। प्रतिभा के वरदान ने तपस्वी आचार्य जिनसेन के काव्य-कौशल को चमत्कारी बना दिया है। मैंने विनम्र भाव से आचार्य जिनसेन की कृति को कथा-भाग के सृजन का आधार बनाकर अपनी आवश्यकता के अनुसार एक सक्षिप्त ढाँचा बना लिया था। फिर पाया कि आदिनाथ-भरत-बाहुबली की कथा के अन्य स्रोत भी हैं, विशेषकर कन्नड साहित्य की कृतियाँ। बाहुबली के मनोभावो के पल्लवन मे मैं इन कृतियो से उपकृत हुआ हूँ।

बाहुबली-आख्यान तो इस कृति का एक पक्ष है—पौराणिक पक्ष। किन्तु श्रवणबेलगोल में भगवान बाहुबली की मूर्ति को शीर्षस्थ करनेवाला पर्वत विन्ध्यगिरि, और इस मूर्ति के निर्माण की सभावना को उद्‌घाटित करने वाला पर्वत चन्द्रगिरि—पौराणिक आख्यान को उस कालखण्ड से जोडते हैं जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास के विधिवत् आकलन का प्रामाणिक प्रस्थान-बिन्दु मानते हैं। वह बिन्दु है, भारत के एकछत्र साम्राज्य के विधायक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का काल और कूटनीति के सिद्धान्तो के विचक्षण प्रतिपादक आचार्य चाणक्य का सहवर्ती समय। चन्द्रगुप्त मौर्य, मुनिव्रत धारण करने के उपरान्त, आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत जाने वाले सहस्रो मुनियो के सघ मे सम्मिलित हो गए। श्रवणबेलगोल का 'चन्द्रगिरि पर्वत' और पर्वत पर का मन्दिर 'चन्द्रगुप्त बसदि' आपने नाम की सार्थकता को इन्ही चन्द्रगुप्त मौर्य के अस्तित्व मे प्रतिफलित पाते है।

इस प्रमाण की आधार-शिला छठी-सातवी शताब्दी का वह लेख भी है जो चन्द्रगिरि पर्वत पर निर्मित पार्श्वनाथ बसदि (मन्दिर) के दक्षिण की ओर वाली शिला पर अकित है। इस शिलालेख की महत्ता को देखते हुए मैंने आवश्यक समझा कि पाठक इसकी शब्दावली, इसके अर्थ और इसके भाव को हृदयगम करें। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैंने जो साहित्यिक विधा अपनायी है, वह एक ऐसा प्रयोग है जिसमे वार्तालाप, नाटकीय उत्कण्ठा, विवेचन और कविता का सम्पुट प्रतिलक्षित है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखो के अध्ययन से प्राप्त तथ्य और निष्कर्ष मैंने सम्बन्धित दो अध्यायो मे इसी शैली मे गूँथे है। मेरा विश्वास है, इतिहास के अध्येता इन शिलालेखो की सामग्री को आधार बनाकर शोध-खोज करेंगे जिससे अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, साहित्यिक और भाषा-शास्त्रीय तथ्य उद्‌घाटित होगे। इसी दृष्टि से इस पुस्तक मे मैंने अनेक परिशिष्ट नियोजित किये है और प्रत्येक विषय से सम्बन्धित शिलालेखो का सन्दर्भ दिया है। भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी ने इन परिशिष्टो के महत्त्व को मान दिया है।

अभी तक की खोजो के अनुसार श्रवणबेलगोल और उस के अचल मे लगभग 575 शिलालेख उपलब्ध हैं। पहली बार सन् 1889 मे 144 शिलालेखो के सग्रह का सम्पादन मैसूर पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन अधिकारी लेविस राइस ने किया था। 34 वर्ष बाद, सन् 1923 मे जो नया सस्करण प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता और सस्कृत-कन्नड के प्रकाण्ड विद्वान नरसिंहाचार ने सम्पादित किया उसके शिलालेखो की सख्या 500 तक पहुँच गई। श्री नरसिंहाचार की प्रतिभा, क्षमता, दूरदर्शिता, श्रम और अध्ययन की व्यापकता का ध्यान करता हूँ तो श्रद्धानत हो जाता हूँ। प० नाथूरामजी प्रेमी की प्रेरणा से डा० हीरालाल जैन ने सन् 1928 में इन

शिलालेखों का देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरण करके महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ इन्हें माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला मे प्रकाशित कराया। कतिपय शिलालेखो के तथ्य का सार भी दिया।

नरसिंहाचार की कृति का तीसरा अंग्रेजी सस्करण सन् 1971 मे इन्स्टीट्यूट ऑफ कन्नड स्टडीज, मैसूर, ने प्रकाशित किया है जिसमे 573 शिलालेख सग्रहीत हैं। शिलालेखो के क्रमाक के लिए तथा उसके पाठ और अर्थ को समझने के लिए मैंने इसी सस्करण को आधार बनाया है। शिलालेख क्रमाक 1 मे जिन भद्रबाहु स्वामी और उनके शिष्य (चन्द्रगुप्त) का उल्लेख है, इस सम्बन्ध मे मैंने नरसिंहाचार के तर्कों और प्रमाणो को साक्ष्य माना है। यह मैं जानता हूँ कि इस सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क आज भी चल रहे हैं। किन्तु जो ठोस प्रमाण सामने है उन्हे नकारने की तुक मेरी समझ मे नही आई।

वस्तुत पुस्तक मे बाहुबली-आख्यान का पौराणिक युग, श्रुतकेवली भद्रबाहु, चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य का ऐतिहासिक काल, छठी-सातवी शताब्दी से लेकर सौ-दो सौ साल पहले तक के श्रवणबेलगोल के शिलालेखो का समय—सब सकेन्द्रित होते हैं, चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठापना के मगलोत्सव की कथा पर। पौराणिक युग के आख्यान के समान यह कथा भी बडी रोचक है। मैंने विविध अनुश्रुतियो को भी इस कथा मे समाहित कर लिया है। कन्नड साहित्य की पुरानी-नयी अनेक प्रकाशित कृतियो द्वारा कथा के ये तथ्य समर्थित हैं।

इस कृति का प्रणयन समग्र रूप से यदि किसी प्रेरणा-स्रोत को समर्पित किया जा सकता है तो भगवान बाहुबली गोम्मटेश्वर के उपरान्त, सौहार्द्र, स्नेह और सज्जनता की मूर्ति श्री साहू श्रेयासप्रसादजी को। पुस्तक लिख मैं रहा था, किन्तु साथ-साथ वह इसके सृजन की प्रगति को आँकते जाते थे। उनके अनुचिन्तन का केन्द्र बन गए थे कृति मे वर्णित कथा सूत्रो के विविध आयाम। जब मैंने पुस्तक के दो अध्याय लिख लिये तो साहूजी ने एक अन्तरग गोष्ठी आयोजित की। बन्धुवर अक्षयकुमारजी और भाई नेमीचन्दजी तो साथ बैठे ही, हमे विशेष उत्साह मिला भूतपूर्व ससद-सदस्य श्री गगाशरणसिंह की उपस्थिति से जिन्होने राष्ट्रभाषा के क्षेत्र मे उत्तर और दक्षिण के अनेक सक्रिय सम्पर्क-सूत्र स्थापित किये हैं। सबने मूल्यवान सुझाव दिये और कृतित्व की सराहना द्वारा प्रोत्साहित किया। पौराणिक आख्यान, सैद्धातिक मान्यताएँ, ऐतिहासिक परिदर्शन, शिलालेखीय अध्ययन, गवेषणात्मक तथ्यो का समाहार, अनेक भाषाओ मे उपलब्ध पूर्ववर्ती कवियो-लेखको के अपने-अपने दृष्टिकोण और भावात्मक पल्लवन की विविधता—इस सबके बीच तारतम्य बैठाते हुए किसी सृजन को 'नया' बनाना दुर्गम को पार करना है।

पाण्डुलिपि का प्रारभिक रूप तैयार होते ही मैंने इसे सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी, डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री नीरज जैन को भेजा। सबने बहुत उत्साह

से पढ़ा और सुझाव दिये। सबके प्रति मेरी विनम्र कृतज्ञता।

भारतीय ज्ञानपीठ के साथियों ने भरपूर सहयोग दिया। पुस्तक का शीर्षक क्या हो इसके विषय मे सबसे अधिक चिन्तन किया श्री साहू श्रेयासप्रसादजी ने। कथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उभारने वाले शीर्षक की कल्पनाएँ उन्होंने की और उनका मन टिका चामुण्डराय द्वारा आयोजित गोम्मटेश्वर के प्रथम अभिषेक को सार्थक बनाने वाली अकिंचन बुढ़िया गुल्लिका-अज्जी पर। बाहुबली तो सबके हैं, और सबका, जन-जन का, प्रतिनिधित्व करने वाली है अज्जी (दादी-मा) गुल्लिका। ज्ञानपीठ मे हम लोगो ने—जगदीशजी, विमलप्रकाशजी, अमरजी, गुलाबचन्द्रजी और मैंने अलग-अलग शीर्षक सूचियाँ बनाई, और धीरे धीरे प्रत्येक शीर्षक को अस्वीकारते गये क्योंकि पूरी बात को, बात के विविध आयामो को, समेटने मे शीर्षक लम्बे हुए चले जा रहे थे। समझ लीजिये कि ये सारे शीर्षक इस कृति के नगीने मे प्रतिबिम्बित है—'अन्तर्द्वन्द्व', 'भँवर-जाल', 'भवरो के पार', 'सतरण और सतीर्थ', 'गुल्लिकायज्जी के विश्व-वन्द्य भगवान्' 'परमचेता बाहुबली' आदि-आदि। जो भी भाव वर्तमान शीर्षक मे नही आ पाये, यहाँ लिख दिये हैं।

प्रत्येक विषय से सर्दभित शिलालेखो का ठीक ठीक क्रमाक देना बडे झमेले का काम निकला। प्राक्तन विचक्षण श्री नरसिंहाचार ने दो सस्करण प्रकाशित किये, दोनो मे बहुत से शिलालेख-क्रमाक भिन्न-भिन्न हो गए। डा० हीरालालजी ने हिन्दी मे शिलालेख उद्धृत किये तो साथ-साथ दो क्रमाक दिये। किन्तु अब जब 'एपीग्राफिया कर्नाटिका' का तीसरा नया सस्करण प्रकाशित हुआ तो क्रमाक पुन बदल गए। अन्तिम परिशिष्ट को छोडकर बाकी सभी स्थलो पर मैंने इसी नये सस्करण के क्रमाक उद्धृत किये हैं, क्योंकि अब अग्रेजी का यही सस्करण उपलब्ध है। कठिनाई यह है कि इसमे बहुत से शिलालेख कन्नड लिपि मे है, या फिर रोमन लिपि मे। श्रवणबेल्गोल के समग्र शिलालेखो का एक हिन्दी सस्करण अपेक्षित है। डा० हीरालालजी वाला अप्रतिम सस्करण बिलकुल ही अप्राप्य है।

पूज्य ऐलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज ने 'आशीर्वाद' के रूप मे जो सारगर्भित भूमिका लिख दी है, उसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञतापूर्वक प्रणत हूँ। श्रवण-बेल्गोल की तीर्थयात्रा मे श्रद्धेय भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी ने तथ्यो के सकलन मे और फिर पाण्डुलिपि के सशोधन मे जो सहायता की वह कृतज्ञता की शब्दावलि मे सीमित नही की जा सकती। मूडबिद्री मठ के युवा और तेजस्वी भट्टारक पण्डिताचार्य श्री चारुकीर्ति पी० स्वामीजी ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक अशो को तन्मयता से सुना और महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी नवयुगीन सास्कृतिक जागरण के प्रेरणा-स्रोत हैं। उसकी धारा को प्रवहमान करने वाले आज तीन तरुण भट्टारक (श्रवणबेल्गोल, मूडबिद्री और हुम्मच के) धर्म-साधना के क्षेत्रो मे क्रियाशील हैं।

उन्होने सास्कृतिक उन्नयन के लिए देश को ही नही, विदेशो को भी अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। भविष्य के प्रति उन्होंने हमे अधिक आशान्वित किया है कि इन क्षेत्रो का सास्कृतिक वैभव अपनी समस्त ऊर्जा के साथ प्रवृद्ध होगा।

भारतीय ज्ञानपीठ की परम्पराओ के निर्वाह और प्रगति के प्रति सदा सचेष्ट श्री साहू अशोककुमार जैन, मैनेजिग ट्रस्टी, के प्रति आभारी हूँ कि उनकी प्रीतिकर सदाशयता के कारण यह सृजनात्मक प्रयास सम्भव हुआ।

ज्ञानपीठ मे डा० गुलाबचन्द्र जैन ने शिलालेखो का क्रमाक ठीक-ठीक बनाने में बहुत परिश्रम किया है। मुद्रण का दायित्व भी उन्ही ने सभाला है। विषयगत पूर्वापर सम्बन्ध जाँचा है। श्री गोपीलाल अमर ने जब जिस प्रकार के सहयोग की अपेक्षा हुई प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत किया। दोनो का साधुवाद!

श्रवणबेलगोल की स्थापत्य एव कला-सम्पदा इतनी समृद्ध है कि इसे आधार बनाकर अनेक विधा-वर्गों के चित्र-सम्पुट (एल्बम) तैयार किये जा सकते हैं। जैन कला की विविधता, विशालता, भव्यता और विकासोन्मुखता की ओर भारतीय ज्ञानपीठ के सस्थापको—स्व० श्री शान्तिप्रसादजी और उनकी सहधर्मिणी स्व० श्रीमती रमा जैन का ध्यान सदा आकृष्ट रहा है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'जैन कला और स्थापत्य' शीर्षक से हिन्दी तथा अग्रेजी मे तीन-तीन खण्ड प्रकाशित हुए है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समादर हुआ है।

इस पुस्तक मे हम अत्यन्त सीमित सख्या मे चित्र दे पाये हैं। इनके लिए हम भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ है। परिच्छद के लिए चित्र श्री हरिश्चन्द्र जैन से साभार प्राप्त हुआ।

ऐसे कठिन लेखन के निर्वाह मे तथ्यो की जो नयी धरती गोडनी पडी है, उसमे हाथ चूक जाना या असावधानी के कारण विपर्यय हो जाना सम्भव है। उदारचेता विद्वान क्षमा करेंगे और मार्ग-दर्शन देंगे।

निर्वाण महोत्सव पर 'वर्धमान रूपायन' के शैली-शिल्प की सर्जिका सहधर्मिणी कुन्था जैन का उल्लेख करना वैसा ही है जैसे अपने हस्ताक्षर करना। मूर्ति प्रतिष्ठापना के सहस्राब्दि महोत्सव पर यह श्रद्धा-सुमन सम्भव हो पाया, यह हम दम्पती का सौभाग्य है।

क्षमापर्व
7 सितम्बर, 1979

लक्ष्मीचन्द्र जैन

अनुक्रम

चित्र-सूची

खण्ड : एक

मानव-सभ्यता के आदिकालीन चरण

1

कुलकरों की भोगभूमि से तीर्थंकर आदिनाथ की कर्मभूमि तक

अनुपम है कथा भगवान बाहुबली की जो इस कृति के नायक हैं, और जो प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के पुत्र थे। आदिनाथ को ऋषभदेव के नाम से वेदों और पुराणों में भी स्मरण किया गया है। इन्हीं आदिनाथ भगवान को कहा गया है महादेव, अर्हत् और रुद्र। ऋग्वेद का सूक्त है '

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्यान् आविवेश (4, 58, 3)

इसका अभिप्राय इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है 'त्रिधा बद्ध' तीन प्रकार से आबद्ध हैं ऋषभदेव—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना से, 'रोरवीति' उन्होंने ऊँचे स्वर में धर्म की घोषणा की और वह महान् देव के रूप मे मनुष्यो मे प्रकट हुए।

भगवान आदिनाथ कब हुए, शताब्दियो के इतिहास का आलोक वहाँ तक नही पहुँच पाया है। किन्तु प्राचीनतम प्रमाण यह कहते हैं कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के आदिकाल मे भगवान ऋषभ हुए। इसीलिए वह आदिनाथ कहलाये। उनके आगमन से पहले मनुष्य ने कबीलो मे या कुलो में रहना सीख लिया था। इन कबीलो के नेता 'कुलकरो' ने समाज को निर्भय बनाने, बदलती हुई परिस्थितियो मे अपनी रक्षा करने का प्रारम्भिक ज्ञान दे दिया था।

लेकिन कुलकरो की परम्परा से पहले मानव-समाज जिस अवस्था मे रहता था, पुरानी पोथियों में उसे 'भोगभूमि' कहा गया है। मनुष्यो की उत्पत्ति जोड़ों में होती थी। एक बालक और एक बालिका एक साथ उत्पन्न होते और एक साथ साहचर्य के रूप में जीवन-लीला समाप्त करते थे। पृथ्वी पर उगे वृक्षो से वे अपनी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ पाते थे। जो कल्पना मन में आती, धरती के वे पेड़ उसे पूरी कर देते। इसीलिए इन्हें 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे—

: जो कल्पवृक्ष रहने के लिए आश्रय देता था वह 'गृहांग' कहलाता था ।
: जो खाने के लिए आहार देता वह 'भोजनांग',
. जो आसन और पात्र आदि देता वह 'पात्रांग',
: पहनने के लिए जो वस्त्र देता वह 'वस्त्रांग',
: शृंगार के लिए भूषण प्रदान करनेवाला 'भूषणांग',
· जिससे सुगन्धित फूलो की मालाएँ प्राप्त होती वह 'मालांग',
· आनन्द के लिए सभी प्रकार के पेय देकर मस्त रखने वाला कल्पवृक्ष 'मद्यांग',
: मनचाहा सगीत सुनने की इच्छा जो पूरी करता वह 'तूर्यांग',
: अंधेरे स्थानो मे उजाला देने वाला 'ज्योतिरंग',
गर्मी और सर्दी की बाधाओ को दूर करने वाला कल्पवृक्ष कहलाता था 'तेजांग'।

इस प्रकार आदि मानव की इच्छाएँ सहज रूप से पूरी हो जाती थी। भोग ही भोग की अवस्था थी उस भोगभूमि मे । काम करने की आवश्यकता नही थी। प्रकृति के साथ एकरसता थी, अपनेपन का सम्बन्ध था।

किन्तु समय स्थिर नही रहता। काल या समय, चक्र की तरह घूमता रहता है। कालचक्र का विभाजन पहिए के आरो की तरह से होता है। चक्र के ऊपर उठते हुए आरे 'उत्सर्पिणी' कहलाते हैं और नीचे उतरते आरे 'अवसर्पिणी' कहलाते हैं। कालचक्र के छह आरे उत्सर्पिणी काल में सुख की अवस्था की ओर ऊँचे उठते हैं और फिर चक्र की दूसरी दिशा मे धीरे-धीरे वही आरे अवसर्पिणी काल में सुख से दु ख और दु ख से दु खतर अवस्थाओ की ओर नीचे उतरते हैं। इस प्रकार काल-चक्र के प्रत्येक दौर मे छह आरे ऊपर उठते हैं और छह आरे नीचे उतरते हैं।

मानव समाज जब भोगभूमि का सपूर्ण सुख पूरी तन्मयता के साथ भोग रहा था, सुख-ही-सुख की उस अवस्था को 'सुषमा-सुषमा' कहा गया है। इसी चरम सुख की अवस्था के बाद कालचक्र के आरो का उतार आरम्भ होता है। सुषमा-सुषमा काल की अवस्था के बाद चक्र का पहला आरा घूमा तो दूसरा आरा 'सुषमा' सामने आया। भोगभूमि का सुख अब दोहरा नही रहा, इकहरा हो गया। इसके बाद 'सुषमा-दुषमा' तीसरे आरे के उतार की स्थिति है। सुख के साथ दु ख की आशका हो चली। इतना ही नही, इस युग के मानव-समाज के समक्ष प्रकृति के नित नये परिवर्तनों के कारण कुछ प्रश्न-चिह्न उभरने लगे।

यह वह काल था जब कल्पवृक्षो में फल कम होने लगे, रस सूखने लगा, इसलिए मनुष्यों का शरीर उतना पुष्ट नहीं रहा। उनके मन में लोभ आने लगा। अधिक पाने और सग्रह करने की इच्छा सबको सताने लगी। सामाजिक व्यवस्था की कोई रूप-रेखा अभी तक सामने नही थी।

कुलकरों की समाज-व्यवस्था

यह समय था जब मानव-समाज को ऐसे नेता की आवश्यकता हुई जो 'कुल' को संभाल सके। इन नेताओं को 'कुलकर' कहा गया है। ये ही मनस्वी नेता 'मनु' कहलाये। करोड़ों वर्षों के अन्तराल में, मन्वन्तरों में, होने वाले ऐसे चौदह कुलकर गिनाये गये हैं। मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे जो बाधाएँ आती गईं, उस युग के कुलकरों ने उन समस्याओं का समाधान किया। इन कुलकरों के जो नाम पुराणों में आते हैं वे उनके विशेष कृतित्व का बोध कराते हैं।

जब ज्योति देने वाले वृक्ष सूखने लगे और धरती पर प्रकाश कम होने लगा तो आकाश में स्थित सूरज और चांद धीरे-धीरे प्रकट होने लगे। लोग भयभीत हुए। पहले कुलकर 'प्रतिश्रुत' ने इन भयभीत मनुष्यों की बात सुनी, इनका रहस्य समझाया और इन्हें दिन और रात के भेद से परिचित कराया।

जब ज्योतिरंग वृक्षों का रहा-सहा प्रकाश भी जाता रहा तो तारों ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। तब दूसरे कुलकर 'सन्मति' ने तारों का ज्ञान कराया। इस प्रकार ज्योतिष का सामान्य ज्ञान प्रारम्भ हुआ। तीसरे कुलकर ने बताया कि वन के पशुओं में हिंसा उत्पन्न हो गयी है, इसलिए इन से किस प्रकार सावधान रहना चाहिए, किस प्रकार अपनी रक्षा करनी चाहिए। वह 'क्षेमकर' कहलाये। कल्पवृक्षों की कमी के कारण जब मनुष्यों में झगड़ा होने लगा तो अगले कुलकर 'सीमकर' ने कल्पवृक्षों का सीमांकन कर दिया। बाद के कुलकर 'सीमंधर' द्वारा भूमि की सीमा नियत की गयी, 'विमलवाहन' ने पशुओं पर शासन करने की कला सिखायी। यह सात कुलकरों की कृतित्व-कथा है।

आठवें कुलकर के समय में एक नयी बात हुई। इससे पहले माता-पिता अपनी युगल-सन्तान को जन्म देते ही अपनी देह छोड़ देते थे। वह नियम भंग हो गया। जीवित माता-पिता ने सन्तान को आँखों से देखा तो भयभीत हुए। तब 'चक्षुष्मान्' कुलकर ने सन्तान को स्नेह से देखने और पालने-पोसने का भाव उत्पन्न किया। अगले-अगले कुलकरों ने सन्तान को नामों से पहचानने की पद्धति बतायी, रोती सन्तान को प्यार से चुप कराने की विधि बतायी। सन्तान का मुख देखकर, हर्षित होकर, कुछ समय बाद ही माता-पिता का निधन हो जाने लगा। यह समय नौवें, दसवें और ग्यारहवें कुलकर का था जिनके क्रमशः नाम हैं यशस्वान्, अभिचन्द्र और चन्द्राभ।

काल-चक्र तो घूमता ही रहता है। धरती और आकाश में परिवर्तन आये। धूप और छाया के खेल शुरू हुए। बारहवें कुलकर 'मरुदेव' ने ठण्डी हवाओं से बचने का उपाय, मेघ और विद्युत से रक्षा, नदी पार करने की विद्या तथा पहाड़ों पर पहुँचने के उपाय बताये। तेरहवें कुलकर के काल में उत्पत्ति के समय सन्तान

झिल्ली में लिपटी दिखाई देने लगी। मनुष्य के लिए यह नयी समस्या थी। तब तत्कालीन कुलकर 'प्रसेनजित्' ने प्रसा (झिल्ली) को शुद्ध करने की विधि बतायी।

अन्त में उत्पन्न हुए चौदहवें कुलकर 'नाभिराज'। इन्होंने सन्तान-उत्पत्ति के समय उस के नाभि-नाल को काटने की विधि बतायी। यही नाभिराज थे भगवान ऋषभ के पिता।

भोगभूमि का काल प्राय समाप्त हो गया। कल्पवृक्ष भी बिलकुल समाप्त हो गये। किन्तु नये-नये प्रकार के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी उत्पन्न होने लगे। तब नाभिराज ने प्रजा को आश्वस्त करते हुए इन सामान्य पेड़-पौधों से जीवन-यापन करने की उन्हें विधि बतायी। साथ ही, विष-वृक्ष और औषधि-वृक्षों में अन्तर बताया तथा उनकी हेयोपादेयता की शिक्षा दी। वह नाभिराज कुलकर ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम गीली मिट्टी से थाली आदि पात्र बनाने की विधि तत्कालीन समाज को बतलायी।

इस प्रकार सृष्टि के भोग-युग के अन्त और कर्मयुग के प्रारम्भ की इस सन्धि-वेला में नाभिराज ने मानव-समाज में कर्मभूमि के उपयुक्त व्यवस्था का सूत्रपात किया।

अनुशासन भग करने वालो के लिए दण्ड-विधान की व्यवस्था कुलकरो के समय मे इस प्रकार रही कि पहले पाँच कुलकर केवल 'हा!' कह कर नियमभग करने वालो को दण्डित करते थे—'खेद है कि तूने ऐसा किया।' अगले पाँच कुलकरो के समय मे अपराध करने वाले को केवल यह कहकर दण्ड दिया जाता था—'मा' अर्थात् 'अब मत करना'। फिर अगले चार कुलकरो के समय मे जिस कठोरतम दण्ड का आविष्कार हुआ, वह था—'धिक्'—धिक्कार है तुझ पर।

ये सब कुलकर ज्ञानी और कुशल व्यक्ति थे। समाज को स्थिर करने, उसे निर्भय बनाने, परस्पर की कलह को मिटाने, दण्ड-विधान और शासन-व्यवस्था चलाने के कारण इनके नेतृत्व को मान मिला।

आदियुग के मानव की इस स्थिति का, कुलकरों की परम्परा का, संकेत आज इतिहास की पुस्तको मे भी स्वीकृत है। 'भारत का इतिहास' भाग-1 में इतिहास-वेत्ता डा० रोमिला थापर ने लिखा है

"विश्व की आदिम मानव-व्यवस्था का एक ऐसा युग था जब पुरुषो और स्त्रियों को किसी वस्तु का अभाव नहीं था, कोई इच्छा अपूर्ण नही रहती थी। उन्हे सब साधन स्वय प्राप्त थे। धीरे-धीरे अवनति का काल आता गया। मनुष्यो मे आवश्यकताओ, अभावो का उदय हुआ। कुटुम्ब की धारणा ने वैयक्तिक पदार्थों के संग्रह को उत्प्रेरित किया। इस कारण विवाद और संघर्ष प्रारम्भ हुए, और तब नियम तथा विधान की व्यवस्था की आवश्यकता हुई। अत: निर्णय किया गया कि एक व्यक्ति के हाथ में शासन और कुलो की व्यवस्था दी जाये जो न्याय और

निर्णय का दायित्व ले।"

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो चुका था। पुरुष और स्त्री अलग-अलग उत्पन्न होते, और अलग-अलग अपना जीवन-यापन करने के उपरान्त मृत्यु को प्राप्त होते। राजतन्त्र ने भी नया रूप ले लिया था। चौदहवें कुलकर 'राजा' नाभिराय के बाद समाज-व्यवस्था और शासन-तन्त्र को विकास की मंजिलों तक पहुँचाने का दायित्व उनके एकमात्र पुत्र ऋषभदेव ने लिया। अयोध्या उनकी राजधानी थी। उनकी दो रानियाँ थीं—यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र और एक पुत्री—ब्राह्मी—उत्पन्न हुई। भरत इनमें सबसे ज्येष्ठ थे। हमारे देश का नाम भारतवर्ष इन्हीं ऋषभपुत्र भरत के नाम पर निर्धारित है। इस संबंध में शिवपुराण और श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख मिलता है

> नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
> तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।।
>
> —शिवपुराण, अध्याय 37/57

> येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीत्
> येनेद वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।
>
> —श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, अध्याय 4/9

ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा की कोख से एक पुत्र बाहुबली,' और एक कन्या 'सुन्दरी', ने जन्म लिया।

सामाजिक संदर्भ में आजीविका के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर ऋषभदेव मानवजाति के महान् नेता बने। कल्पवृक्ष तो नष्ट हो ही चुके थे, स्वतः उत्पन्न होने वाले धान्य भी जब दुर्लभ हो गये तो प्रजा व्याकुल हो उठी।

"महाराज, हम नाश के कगार पर खड़े हैं। हमारे सामने प्राणो का संकट उपस्थित है। हम भूखे हैं। हम क्या खायें?" प्रजा ने सामूहिक प्रार्थना की।

"तुम्हारी समस्या का समाधान मैंने सोच लिया है," ऋषभदेव बोले। "देखो, यह पृथ्वी विश्वंभरा है। सारे विश्व को पाल सकती है। यह अन्नपूर्णा है। मैं बताता हूँ कि 'बीज' क्या होता है और धरती की परत को तीक्ष्ण नोक वाले फलके से खींचकर, 'कृष' करके, बीज किस तरह बोया जाता है। यही 'कृषि' कहलाती है। अन्न इसी से उत्पन्न किया जाता है।" कृषि की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने क्षुधा के भयंकर रोग का उपचार किया।

और फिर, आत्मरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या उन्होंने सिखायी। वस्तुओं के लेन-देन की वणिज पद्धति बतायी। अनेक कलाओं की और साहित्य-

रचना की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने मनुष्य के संस्कारों को उन्नत किया, संस्कृति की नींव डाली। व्याकरण के नियम, छन्द और काव्य रचने की विधि, वादन, नृत्य, नाट्य-शिल्प, ढोल आदि बाजे बजाने की कला, सेना-संचालन, व्यूह रचने की प्रक्रिया, नगर और भवन की रचना, नाप-तोल की विधि आदि 72 कलाएँ आदिनाथ ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत को सिखायी। छोटे पुत्र बाहुबली को विशेष रूप से स्त्री-पुरुषों और पशु-पक्षियों के गुणों की पहचान, शुभ-अशुभ समय का ज्ञान, गणित और ज्योतिष की विद्या मे निपुण किया। अपनी पुत्री ब्राह्मी के लिए लिपि का आविष्कार किया। कहते हैं, इसीलिए वह ब्राह्मी लिपि कहलायी। पुत्री सुन्दरी को अंक विद्या सिखायी, उसे स्त्रियों की 64 कलाओं में निपुण बनाया। तभी से यह सब ज्ञान, ये सब कलाएँ और ये सब शिल्प-विद्याएँ मानव-समाज को उत्तराधिकार मे मिली हुई हैं।

असि (युद्ध), मसि (लेखन), कृषि (खेती), वाणिज्य (व्यापार), विद्या (शास्त्ररचना, नृत्य-गायन आदि) और शिल्प (हस्तकला, चित्रांकन आदि) आजीविका के लिए उपयोगी इन छह कर्मों की शिक्षा देने वाले; समाज, राज्य और ससार की व्यवस्था का रूप निर्धारित करने वाले ऋषभदेव, योगविद्या के भी आदि-प्रणेता थे। सयम, तप, त्याग एव ध्यान की एकाग्रता से किस प्रकार अलौकिक शक्तियों का विकास होता है, मन की राग-द्वेष की प्रवृत्तियों से किस प्रकार 'कर्मों' का बन्ध होता है और किस प्रकार सयम द्वारा, राग-द्वेष के त्याग द्वारा आत्मा कर्मबन्ध से मुक्त होकर मोक्ष का अविनश्वर सुख प्राप्त करती है, इस सबका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया और जन्म-मरण के सागर को पार करने का 'तीर्थ' निर्माण किया। ससार की क्षण-भगुरता की अनुभूति उन्हें किस प्रकार वैराग्य के पथ पर ले गयी थी, यह घटना अत्यन्त बोध-कारक है।

एक दिन इन्द्र द्वारा लायी गई स्वर्ग की एक अप्रतिम रूपसी अप्सरा नीलांजना, महाराज ऋषभदेव की सभा में नृत्यकला का प्रदर्शन कर रही थी। संगीत के आरोह-अवरोह पर, नूपुरों की मधुर ध्वनि के साथ मनोहारी लयो पर थिरकते पग; भावो के अनुसार भगिमाओं का मनमोहक प्रदर्शन, नृत्य की लुभावनी मुद्राओं पर मन्त्रमुग्ध होकर सारी सभा रूप, रस और कला की लहरियो पर तैर रही थी कि अचानक कुछ ऐसा घटा कि नीलांजना की नृत्यमग्न काया, छाया की तरह विलीन हो गयी। नृत्य की चमत्कारी भगिमा और स्वरों की लय लहरियो पर थिरकती नृत्यांगना नृत्य की गति में एकाकार हो गई है। दर्शक यह नहीं सोच पाये कि तरगों की तुलना में नीलांजना नहीं है। केवल ऋषभदेव यह जान गये कि नृत्यसभा को अभंग रखने के लिए इन्द्र ने नीलांजना की एक दूसरी प्रतिच्छवि नृत्यभंगिमा के उस सहस्रांश क्षण के पदचाप पर लाकर खड़ी कर दी है जहाँ से वह पहली अप्सरामूर्ति विलीन हुई थी। राजा ऋषभ ने सोचा, "क्या यही है शरीर का धर्म ? यही है

1 अकोटा से प्राप्त ऋषभदेव की कांस्यमूर्ति का शिरोभाग

[बड़ौदा संग्रहालय]

जीवन का सफल ? चरम लावण्य के क्षण में कंचन-सी काया की यह क्षणभंगुरता ? इस प्रकार आयु पूरी होने का क्षण जब अचानक आ जाता है तो जीवन में फिर कब तपस्या, त्याग, साधना और आत्मध्यान का अवसर कहाँ रह जाता है जो निर्वाण का अनन्त और अमर सुख देता है ?"

महाराज ऋषभदेव सिंहासन से उठे तो राज्य-त्याग का संकल्प कर चुके थे। फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-भार समलवाया, बाहुबली को युवराज के रूप में पोदनपुर का राज्य दिया, अन्य 99 पुत्रों में राज्य की सीमाएँ बाँट दी और स्वयं सब कुछ छोड़कर, वस्त्र और आभूषण त्यागकर, निर्ग्रन्थ होकर, वन मे सयम और तपस्या की साधना के लिए निकल पड़े।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने कठिन तप के द्वारा आत्मिक बल प्राप्त करने के लिए कई-कई महीने उपवास किये, निराहार रहे। गृह-त्याग के बाद और स्वयं प्रव्रजित होने के उपरान्त एक वर्ष तक वे भोजन नहीं कर पाये क्योंकि जिस प्रकार का, जिस विधि से, आहार प्राप्त होने पर उसे ग्रहण करने का सकल्प वह ले चुके थे वह पूरा नही हो पा रहा था। मुनि ऋषभ प्रतिदिन आहार के लिए मौन भाव से निकलते और निराहार लौट जाते। लोगों ने विविध प्रकार का भोजन उनके सामने प्रस्तुत किया, किन्तु उनका सकल्प किया हुआ आहार नहीं मिला। इस प्रकार एक वर्ष तक उनके निराहार रहने के उपरान्त इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार श्रेयास, पूर्वभव के स्मरण द्वारा, जब गन्ने का रस लेकर खड़े हुए और आहार के लिए ऋषभदेव का आवाहन किया, उन्हें पड़गाहा, तब इच्छित विधि पूरी होने पर उन्होंने आहार लिया। इस मधुर पेय इक्षुरस के लेने की पुण्यतिथि 'अक्षय तृतीया' के नाम से प्रचलित है। इस विकट तपस्या का लक्ष्य था दृढ़व्रती, आत्मजयी बनकर वह ज्ञान प्राप्त करना जिससे आत्मा, परमात्मा, जीवन और जगत् के सारे रहस्य खुल जाते हैं, जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी अवस्थाओं का, सभी पदार्थों का, एक साथ वह पूर्णज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिसे 'केवलज्ञान' कहते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि सयम और योग की साधना से कर्मों के बन्ध कटते हैं। अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने से ससार के सभी प्राणियों की रक्षा होती है, समाज का कल्याण होता है। त्याग और तपस्या में रत होकर आत्मध्यान करने से प्रत्येक मनुष्य को निर्वाण की वह अवस्था प्राप्त हो सकती है जहाँ आत्मा शुद्ध रूप में अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान की दशा में अजर-अमर हो जाती है।

ध्यान, तपस्या और योग-साधना के अन्तिम चरण में भगवान् आदिनाथ कैलाश पर्वत पर विराजमान थे। वहाँ से ही उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया—जीवन और मरण की परम्परा को सदा के लिए काट दिया। ससार-सागर को पार करके उन्होंने दूसरों को भी अध्यात्म-साधना और मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग दिखा दिया। इसीलिए तो वह आदि तीर्थंकर कहलाए।

केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त, अनुभूत धर्म का उपदेश देने के लिए तीर्थंकर ऋषभदेव दूर-दूर तक विहार करने लगे। उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ।

धर्मचक्र को रूपाकार देने की कथा ऋषभ-पुत्र बाहुबली के जीवन के साथ सम्बद्ध है। भारतीय पुरातत्त्व के इतिहासकार जॉन मार्शल ने अपनी पुस्तक—'गाइड टु तक्षशिला' मे लिखा है :

"धर्म का उपदेश देते, विहार करते हुए भगवान ऋषभदेव जब तक्षशिला (पोदनपुर) पहुँचे, उस समय वहाँ भगवान के छोटे पुत्र बाहुबली राज्य करते थे। भगवान ऋषभदेव सध्या समय तक्षशिला पहुँचे और उसी समय ध्यान मे लीन हो गये। बाहुबली को उनके आगमन की सूचना देर से मिली। प्रातःकाल जब बाहुबली अपने राजसी दलबल से सुसज्जित हो भगवान की वन्दना के लिए वहाँ पहुँचे तो देखा कि वीतराग, मोहमुक्त भगवान वहाँ नही थे। बहुत पश्चात्ताप हुआ बाहुबली को। तीर्थंकर भगवान के पधारने की याद मे, उनके धर्म के उपकारी 'तीर्थ' को प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित करने के विचार से, बाहुबली ने 'धर्मचक्र' पहली बार तक्षशिला मे स्थापित किया।"

यह है चरित उन तीर्थंकर आदिनाथ का जो पुरुषार्थ के आदिजनक हैं, जो प्रथम तीर्थंकर जिनेश हैं, जिन्होने पहली बार सामाजिक व्यवस्था के विधि-विधान निर्धारित किये, जो धर्म के सचालक हैं, और जो इस युग मे अवतरित होकर ससार का कल्याण करने वाले परम गुरु हैं।

आदि पुरुष, आदीश जिन, आदि सु-विधि करतार।
धरम-धुरन्धर, परमगुरु, नमो आदि-अवतार॥

2

भरत चक्रवर्ती का साम्राज्य-विस्तार

अहं के अणु का विस्फोट

तीर्थंकर आदिनाथ जब राज्य-त्यागकर प्रव्रज्या की ओर उन्मुख हुए थे, तभी उन्होंने भरत को राजधानी अयोध्या का राज्य देकर, बाहुबली को युवराज घोषित कर दिया था और उन्हें पोदनपुर का राजा बना दिया था। भरत के शेष भाईयो को भी अलग-अलग राज्यो का स्वामित्व प्राप्त हुआ था।

एक दिन राजर्षि भरत राज्य-सभा मे बैठे हुए थे कि एक के बाद एक, तीन संदेहवाहक आये और हृदय को आनन्दित करने वाले समाचार देते गये। धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया कि भरत के पिता, आदिनाथ, को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। यह उनकी साधना और तपस्या की सिद्धि थी। 'भगवान् आदिनाथ अब जन-जन को धर्मोपदेश देने के लिए विश्व मे विहार करेंगे, उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन होगा' यह विचारकर भरत प्रमुदित हुए। मन ही मन उन्होंने भगवान को प्रणाम किया। तभी राज-प्रासाद का प्रमुख संदेशवाहक आ उपस्थित हुआ। उल्लास के कारण उसकी वाणी मानो सँभाले में नही आ रही थी। उसने समाचार दिया : "महाराज, आपको पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ है।" सन्तान का मुख देखने के लिए भरत अधीर हो गये। पितृत्व की साध पूरी हो गई। राज्य-लक्ष्मी का वरण करने वाले नन्हें-से राजकुमार के प्रादुर्भाव ने प्रजा के सामने राग-रंग का अद्भुत अवसर उपस्थित कर दिया। समाचार के आनन्द को महाराज भरत अभी आत्मसात् कर ही रहे थे कि आयुधशाला का अधिपति हर्षोन्मत्त-सा आया, यह निवेदन करने कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। यह भरत के चक्रवर्तित्व का चिह्न था। एक क्षण मे ही भरत की कल्पना में अपने राज्य की सीमाएँ चारों-दिशाओं को सम्पूर्ण रूप से व्याप्त करती दिखाई देने लगीं।

पिता का केवलज्ञान 'धर्म' पुरुषार्थ की सिद्धि थी। चक्ररत्न 'अर्थ' पुरुषार्थ की

उपलब्धि का द्योतक था, और पुत्र की उत्पत्ति 'काम' पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति थी।

तीनों ही घटनाएँ महत्त्वपूर्ण थीं। भरत के मन में कुछ क्षणों के लिए संकल्प-विकल्प हुआ कि पहले किस सौभाग्य की अभ्यर्थना करें। सोचा, तो यही निर्णय किया कि सबसे पहले भगवान आदिनाथ के समवसरण मे जाकर केवलज्ञानी प्रभु की पूजा की जाये जो पूज्य पिता भी हैं। 'धर्म' जो चौथे और सर्वोच्च पुरुषार्थ 'मोक्ष' का साधक है, वही सर्वप्रथम वन्दनीय है। भरत ने जाकर तीर्थंकर भगवान की अर्चना की, उनसे धर्मोपदेश सुना।

उसके उपरान्त वह राजप्रासाद मे गये। प्रसूति की शुचिता और शोभा से प्रसन्न-वदन अपनी वल्लभा स्त्रीरत्न सुभद्रा की गोद में खेलते पुत्र का मनोरम मुख देखकर भरत पुलकित हुए। नगरी पुत्रोत्सव की रग-शाला बन गई।

तत्पश्चात् वह गये आयुधशाला मे। वहाँ दैवी-प्रभा से दीप्तमान् चक्ररत्न की पूजा की—पुण्य-प्रताप का वरदान जो विश्व की विजय-यात्रा का सन्देश-वाहक था और जिसकी सार्थकता को भरत अपने पराक्रम से प्रमाणित करने के लिए उद्यत थे। चक्रवर्तित्व का वह प्रेरणा-प्रतीक पूजनीय था।

धीरे-धीरे आयुधशाला मे अन्य रत्न भी दृष्टिगोचर हो गये—छत्र, दण्ड, असि आदि।

जिस प्रकार तीर्थंकर को जन्म से ही तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है, किन्तु उसे त्याग, सयम, साधना और तप से कर्मबन्ध का नाश करना पडता है क्योंकि मोक्ष स्वय-सिद्ध उपलब्धि नही है, उसी प्रकार चक्ररत्न की प्राप्तिमात्र से ही चक्रवर्तित्व प्रतिष्ठापित नही हो जाता। उसे अपने प्रभाव, पराक्रम और दिग्विजय के प्रयास द्वारा सार्थक करना होता है।

ससार के सभी नरेशो को अपनी अधीनता मे करने के लिए और विश्व की धरा एव सम्पदा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए भरत ने अपनी असख्य सेना, राजाओ के दल-बल और लाखो-करोडो अश्वो, हाथियों, रथो और वाहनो के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। चक्ररत्न आगे-आगे चल रहा था कि चक्रवर्ती की विजय-कामना के प्रति किसी को भ्रम न रहे। दण्डरत्न भी साथ-साथ था कि यदि कोई विरोध करने का साहस करे तो विनाश का प्रतीक वह दण्ड उसे परिणाम के प्रति आतंकित रखे।

नियम था कि जहाँ-जहाँ से चक्र निकले वहाँ-वहाँ के अधिपति और नरेश चक्रवर्ती को नमस्कार करें और उसकी शरण मे आते जायें। इन राजाओ के नगर, ग्राम और भूखण्ड चक्रवर्ती के साम्राज्य के अग बनते चले जायें। चक्र को जो रोके, भरत की सेना से युद्ध करे और परिणाम भोगे।

जहाँ जहाँ भरत का चक्र घूमा, धरा स्वयमेव विजित होती गयी। विरोधी पराभूत होते चले गये। पूर्व मे अनेक वन-प्रान्तरों को पार करने के उपरान्त गगा

कहीं तक ध्वज पहुँचा। उपसमुद्र, समुद्रतट और लवण-समुद्र को पार कर फिर स्थल की ओर चक्र आया। हिमवनगिरि से विजयार्ध पर्वत तक। सभी दिशाओं को दिग्विजय के शंखनाद से गुंजाता सैन्य-दल आगे बढ़ा जा रहा था। चक्रवर्ती के पराक्रम की शृंखला में अनेक-अनेक विजयों की कड़ी जुड़ती चली गयी, जो क्रमशः विश्व की परिधि को घेरती जा रही थी।

दिग्विजय के अन्तिम चरण में विजयार्ध पर्वत के वृषभाचल शिखर की ओर चक्र बढ़ा तो महाराज भरत के मन में विचित्र आकांक्षा जगी कि पर्वत के शिखर को घेर कर खड़ी हुई किनारे की शिलाओं पर वह अपने दिग्विजय के पराक्रम की प्रशस्ति अपने हाथ से उत्कीर्ण करें। भरत ने सोचा—"लक्ष्मी चंचल है, कालान्तर मे कौन इसे देखेगा। किन्तु कीर्ति और यश चिरस्थायी हैं। यदि इन अनन्तकाल तक अक्षय रहने वाली शिलाओं के वक्ष पर मैं अपनी कीर्ति उत्कीर्ण कर दूँ तो मेरे अद्वितीय शौर्य की यह गाथा अमर हो जायेगी।" अनिर्वचनीय उत्साह से भरे भरत शिला के एक भाग तक जब पहुँचे तो देखा वहाँ कुछ लिखा हुआ है। वह किसी नरेश की प्रशस्ति थी—चक्रवर्ती नरेश की। भरत को आश्चर्य तो हुआ किन्तु सोचा कि अतीत मे कोई राजा हुआ होगा जिसे चक्रवर्ती मान लिया गया होगा। शिला का विस्तार बहुत बडा था। सोचा—'आगे के किसी भाग मे प्रशस्ति लिख दूंगा'। भरत आगे बढे। देखा, कुछ लिखा हुआ है—फिर किसी चक्रवर्ती का नाम। भरत तीव्र व्याकुलता की स्थिति मे आगे बढ़ते गये किन्तु कही कोई शिला-पट ऐसा नही मिला जिस पर किसी चक्रवर्ती की प्रशस्ति न लिखी हो। भरत हताश हो गये। किन्तु, हारे नही। अपनी प्रशस्ति तो लिखनी ही थी, सो इस परम प्रतापी चक्रवर्ती ने किसी एक पूर्ववर्ती नरेश की प्रशस्ति को वज्रखण्ड से घिस-घिसकर मिटा दिया, शिला-खण्ड को चिकना कर दिया और हीरे की छैनी से अक्षर उकेरने प्रारम्भ किये। मन मे तब लाछना की यह गूंज नही उठी होगी?—"देख तो रहा है तू भरत, कि इस धरा पर तुझसे पहले कितने असख्यात चक्रवर्ती हो गये हैं। इनमें से प्रत्येक ने अपने अहं को तुष्ट करने के लिए अपनी प्रशस्ति यहाँ उत्कीर्ण की है। उनको तो लिखने का स्थान भी मिला है, किन्तु तू ऐसा कि दूसरे की प्रशस्ति को मिटाकर अपने अहकार के नश्वर अक्षर उकेर रहा है।"

नि.सन्देह भरत ने प्रशस्ति मे मात्र वही लिखा—जो यथार्थ था। अनगिनत महान् यशस्वी यथार्थों के समुद्र के बीच मे कीर्ति की छोटी-सी बूंद:

"स्वस्ति श्री। इक्ष्वाकु वंश रूपी आकाश का चन्द्रमा और चारो दिशाओं की पृथ्वी का स्वामी मैं भरत हूँ। मैं अपनी माता के सौ पुत्रों में से एक बड़ा पुत्र हूँ। श्रीमान् हूँ। मैंने समस्त विद्याधर, देव और भूमिगोचरी राजाओं को वशीभूत किया है। प्रजापति भगवान् वृषभदेव का पुत्र हूँ, मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धि का धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, धीर हूँ, इस

युग के चक्रवर्तियों मे प्रथम हूँ। इसके अतिरिक्त मुझ विजयी ने दिग्विजय के समय समस्त पृथ्वीमण्डल को अपने पराक्रम के घेरे में बाँध लिया है। जिसके जल और थल में चलने वाले अठारह करोड़ घोड़े हैं; जिसकी विजयी सेना में चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी हैं; जिसकी दिग्विजय के समय सेना की धूसर धूल ने चारों ओर उठी हुई समस्त दिशाओं और आकाश को आच्छादित कर दिया है; चन्द्रमा की कलाओं के समान जिसका निर्मल यश समस्त दिशाओ मे व्याप्त है, जिसका कीर्तिगान कुलपर्वतो के मध्यभाग मे बसे देवता बारबार करते हैं; दिग्विजय के समय तीव्रगामी चक्र के पीछे-पीछे चलने से जिसकी श्रान्त सेनाओ ने हिमवान् पर्वत की तराई का उल्लंघन कर दिशाओ के अन्त भाग मे विश्राम किया है; जो श्री नाभिराय का पौत्र है, श्री वृषभदेव का पुत्र है, जिसने छह खण्डो से सुशोभित इस समस्त पृथ्वी का पालन किया है, जो समस्त राजाओ को जीतनेवाला है—ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को नश्वर समझकर जगत् मे फैलने वाली अपनी कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया है।"

भरत ने प्रशस्ति उकेरकर जब उसका वाचन किया तो उसे उसकी गरिमा पर सन्तोष हुआ। पुराणकार कहते हैं कि चक्रवर्ती के गौरव को मान देने के लिए देवताओ ने आकाश से पुष्प-वर्षा की।

दिग्विजय की सम्पूर्णता अब सामने थी। पृथ्वी की परिक्रमा समाप्ति पर थी। अयोध्या मे प्रवेश करने से पहले भरत ने कैलाश पर्वत पर जाकर धर्मतीर्थ की महिमा से मण्डित परम वीतराग प्रभु आदिनाथ के दर्शन किये, उनकी उपासना की।

चारो दिशाओ मे फैले ससार की दिग्विजय के उपरान्त भरत का विजय-चक्र, सफलता के गौरव से दीप्त, वापस अयोध्या की सीमा तक आ पहुँचा। नगरवासी उमड पडे स्वागत के लिए। दुन्दुभियो की ध्वनि मे शब्द खो गये। चक्ररत्न परकोटे को पार करना ही चाहता था कि अचानक रुक गया। 'कोई कारण नहीं कि चक्र रुके।' भरत ने बारबार सोचा—'चक्रवर्ती का चक्र तो रुकता ही नहीं, जब तक अवरोध सामने न हो।'

"मैं तो विश्व-विजय कर चुका, फिर चक्र को कुठित करने की धृष्टता किस देव-दानव, मन्त्र-तन्त्र की है? चक्रवर्ती का चक्र तो रुकता नहीं, रुक ही नहीं सकता। फिर यह दुर्घटना क्यो?"

सरसराते बाण की तरह सेना मे, कटक मे, नगर मे, जन-जन की जानकारी मे, कानों-कान सूचना पहुँच चुकी थी कि भरत का चक्र रुद्ध हो गया। भयानक निस्तब्धता। मन्त्री भयभीत हुए। वह कुछ न बता पाये, तो नैमित्तिकों, ज्योतिषियों का आह्वान हुआ। निमित्तज्ञानी ने बताया

"यह ठीक है कि ससार के नरेश और जल-थल के अपने-अपने क्षेत्र के स्वामी—मनुष्य तथा देव, सब झुकते चले आये हैं किन्तु महाराज भरत को अपने 99

भाइयों की ओर पोदनपुर में बैठे बाहुबली का ध्यान रहा ही नहीं क्योंकि वे तो सगे भाई हैं, भरत के चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा के सहभागी। लेकिन नहीं, जब तक भाई अपने-अपने राज्यों को आपके साम्राज्य की अधीनता में विलीन नहीं कर देते, तब तक दिग्विजय पूरी नहीं होती।"

"ठीक तो है", भरत ने कहा। "इतनी बड़ी दिग्विजय के अवसर पर मुझे स्वयं ही अपने भाइयों को बुलाना चाहिये था। कोई बात नहीं, अब लिखे देता हूँ।"

दूत चक्रवर्ती का पत्र लेकर भाइयों के पास पहुँचे। 99 भाइयों ने निर्णय किया कि वह पराधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन युद्ध भी नहीं करेंगे। वे सब तत्काल तीर्थंकर आदिनाथ के समवसरण में पहुँचे और चरण-वन्दना करके निवेदन किया—"प्रभो! भरत हमें अपनी आज्ञा में बाँधकर हमसे प्रणाम करवाना चाहता है। वह आपके दिए हुए राज्य को अपने वश में करना चाहता है। हम प्रणाम करेंगे तो केवल आपको ही, अन्य को नहीं। भरत के मन में घोर अहंकार और लोभ उत्पन्न हो गया है।"

भगवान ने करुणा-पूर्ण वचन कहकर सान्त्वना दी : "भरत का पुण्य जब तक प्रबल है वह राज्य करेगा, साम्राज्य का विस्तार करेगा। तुम लोग अपने मन से क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करो। तुम्हारे मन मे धर्मभाव जगा है। ईर्ष्या को छोड़ो।"

तवलं स्पर्द्धया, दध्वं यूयं धर्म-महातरो।
दया-कुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्॥

—छोड दो स्पर्धा; उस धर्मरूपी महावृक्ष का आश्रय लो जिसमें दया के फूल खिलते हैं जो कभी म्लान नहीं होते, और जिससे मुक्ति का फल प्राप्त होता है।" धर्मोपदेश सुनकर समस्त 99 सहोदरो ने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया।

उधर भरत का पत्र लेकर अश्वारोही नायक पोदनपुर पहुँचा। अनेक द्वारपालों को सूचना देते हुए, महाराज भरत के पत्र की राजमुद्रा दिखाते हुए उसने बाहुबली के सभागृह मे प्रवेश किया। झुककर प्रणाम किया, भरत का पत्र दिया और विनम्र-भाव से बाहुबली की भाव-भंगिमा को देखता रहा। फिर बोला :

"मुझे कुछ मौखिक निवेदन करना है, प्रभु।"

"कहो, क्या कहना है?" बाहुबली ने कहा। साथ ही, पूछा—

"दिग्विजय की यात्रा से श्रम-श्रान्त मेरे अग्रज प्रसन्न तो हैं? बहुत दिनों बाद उन्होंने हमें याद किया। ठीक ही तो है, वह इतनी बड़ी पृथ्वी के स्वामी हैं। उन्हें बहुत लोगों की चिन्ता रहती है। उन्होंने समस्त दिशाएँ वश में कर ली हैं। समस्त राजाओं को जीत लिया है। अब तो कोई चिन्ता शेष नहीं रही है न?"

दूत बोला—"महिमामय, आपका प्रश्न बहुत सार्थक है। आप दूरदर्शी हैं। चक्रवर्ती महाराज ने आपको निमंत्रित किया है कि दिग्विजय पूर्णता को प्राप्त हो।

हम लोग तो स्वामी के अभिप्राय के अनुसार कहते हैं। चक्रवर्ती ने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है, मैं उसे निवेदन करने आया हूँ। उसे स्वीकार करने का आधार यही होना चाहिए कि उसके पीछे वार्ता भेजने वाले का गौरव मान्य है। शास्त्र का वचन है कि गुरुजन का आदेश किसी तर्क-वितर्क के बिना मान लेना चाहिये। भरत इक्ष्वाकुवंश के ज्येष्ठ पुरुष हैं, भगवान ऋषभदेव के पुत्र हैं, राजाओं में प्रथम हैं, आपके अग्रज हैं। उन्होंने देवों को भी वश में करके उनसे प्रणाम करवाया है।"

संदेश-वाहक नायक बहुत चतुर था। उसने बाहुबली के चेहरे पर उभरने वाले भाव की छाया देखी, और इस आशंका से कि कहीं वह कोई अप्रिय बात कहने का उपक्रम न करें, भरत के शौर्य को, उनकी शक्ति को, बखानना उचित समझा। उसने बात का क्रम बनाये रखते हुए कहा

"भरत चक्रवर्ती की शूरवीरता की गाथा इस दिग्विजय के कारण अमर हो गई है। उन्होने समुद्र में अपना अश्वरथ दौड़ा दिया। बारह योजन दूर तक जाने वाले उनके बाण ने महासागर में रहने वाले मागधदेव को कँपा दिया। विजयार्द्ध पर्वत के देव को जीतकर उससे अपनी स्तुति करवायी। म्लेच्छों का राजा विरोध करना चाहता था किन्तु भरत के सेनापति ने अपने ही बल से हराकर, उसका धन छीन कर, उसे दास बना लिया है। हे आयुष्मन्, विश्वमान्य महाराज भरत अपने चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा आप तक पहुँचाकर आपको आशीर्वाद देते हुए यह आज्ञा कर रहे हैं कि समस्त द्वीप-समुद्रों तक फैला हुआ हमारा यह राज्य बिना हमारे भाई बाहुबली की उपस्थिति के शोभा नही दे रहा है। ऐश्वर्य वही सार्थक है जिसे भाई लोग साथ-साथ भोगें। इसलिए आप चलकर उन्हें प्रणाम करें।"

दूत बाहुबली के भावों के ज्वार को परख रहा था। अब अन्तिम तर्क शेष था जो अकाट्य होना चाहिए। दूत ने स्वर को गम्भीर बनाकर कहा :

"यदि कोई शत्रु प्रणाम न करे तो उससे दुख नही होता किन्तु यदि लघु भ्राता आकर प्रणाम न करे तो वह कहीं अधिक दुखदायी होता है। आप प्रणाम करके उनका सत्कार कीजिये। इससे आपकी सम्पदाएँ बढ़ेंगी। भरत महाराज का चक्र-रत्न साथ चलता है, उसका कोई उल्लघन नही कर सकता। उनके विरुद्ध जाने का इसी कारण कोई साहस ही नही कर सकता। और, उनका दण्डरत्न विमुख नरेशों को दण्ड देता चलता है। देखिये, कितने मण्डलेश्वर राजा इस दण्ड के कारण खण्ड-खण्ड हो गये हैं। आप विलम्ब न करें। चलकर प्रणाम करें। भाईयों के मिलन से संसार पुलकित होगा।"

"रे मूर्ख", बाहुबली गरजे। "तू बोले ही चला जा रहा है, और तुझे स्वयं पता नहीं कि क्या असमंजस कह रहा है? तू शान्ति और प्रेम की बात कर रहा है, या चक्र के प्रभाव की जो पराधीन बनाता है; या उस दण्डरत्न की, जिसे तू भय

और विनाश का कारण बना रहा है ? रे दुर्बुद्धि, क्या तू यह नहीं जानता कि चक्र को कुम्हार भी चलाता है और वह भी दण्ड का सहारा लेकर ? तेरा स्वामी भी कुम्हार ही है क्या, जिसके पास चक्र भी है और दण्ड भी ? तूने अपने स्वामी को भिखमंगा बना दिया। वह मुझसे मेरी पृथ्वी की भिक्षा माँग रहा है। उधर तू यह भी कह रहा है कि यदि मैं जाकर प्रणाम करूँ तो स्वामी से सम्पदा पाऊँगा। रे बुद्धिहीन, अपने मुँह से अपनी बड़ाई और दूसरों की हीनता ?"

दूत बाहुबली के इस आक्रोश को समझ रहा था। उसने निवेदन किया—"महाराज, आपकी अकृपा मैं नहीं चाहता, किन्तु जिनकी कृपा आपके हित में है उन अग्रज की ओर से ही मैं यह कह रहा हूँ।"

बाहुबली की भृकुटि मे बल आ गया। बोले, "एक बात कहकर तू मानो घी को ताव दे रहा है, तो साथ ही दूसरी बात कह कर तू उसमे पानी डाल कर उसे शान्त करना चाहता है। तू क्या इतना भी नही जानता कि इससे घी अधिक खौलता है और छनछनाहट करता है ? बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है, यह मैं मानता हूँ। किन्तु जो भाई गर्दन पर तलवार रखकर प्रणाम करवाना चाहे, उसकी अधीनता कैसे सही जा सकती है ? बता तो—आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने राजा की उपाधि किसे दी ?"

"वीरवर महाराज भरत को, और आपको भी।"

"ठीक" बाहुबली बोले, "किन्तु अब भरत राजराजा बनना चाहता है, वह भी मुझे नीचा दिखाकर ? व्यर्थ है यह। रे दूत, पूछ अपने स्वामी से कि जिस धरा-लक्ष्मी को पिता ने मुझे दिया, जो मेरी वल्लभा है, उसका अपहरण करके वह मानो भाई की स्त्री को हरना चाहता है ? उसे लज्जा नही आती ? समझ ले अच्छी तरह कि मुझे पराजित किये बिना वह मेरी पृथ्वी का भोग नहीं कर पायेगा।"

दूत ने अब अन्तिम परिणाम पर वार्तालाप को पहुँचाना उचित समझा, जैसा कि वह अपने स्वामी से संकेत लेकर आया था। उसने कहा, "तब तो महाराज, युद्धक्षेत्र में ही महाप्रतापी चक्रवर्ती भरत इस समस्या का समाधान आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।"

"मूढ़मति, दूत! भरत युद्धक्षेत्र को कसौटी बनाना चाहते हैं तो उसी पर मेरा और भरत का पराक्रम कसा जायेगा। जा, जाकर स्पष्ट कह दे।" बाहुबली के स्वर में गर्जना थी। क्षणभर रुककर बोले, "तेरे दुःसाहस को मैंने इसीलिए उपेक्षित किया कि तू दूत का कर्तव्य निभा रहा है।"

परिणाम यह कि दोनों भाइयो मे ठन गई। युद्ध के नगाड़े बज उठे। दोनों ओर की सेनाओं ने युद्ध के लिए कूच कर दिया और आमने-सामने आ पहुँची। महानाश की आशंका से त्रस्त दोनों ओर के बुद्धिमान वयोवृद्ध मन्त्रियों ने मिलकर सलाह की। "दो भाईयों की आपसी बात है। इसमें तीसरे किसी का क्या ? युद्ध

बचो हो ? सेनाएँ क्यों मरें-कटें ? दोनों समर्थ हैं, आपस में टकराकर निर्णय कर लें कौन अधिक बली है, कौन जीतता है।" युद्ध को सीमित करने का, सद्बुद्धि को क्रोध और आवेश पर विजय पाने का यह पहला अवसर था। उन्होंने भाइयों के सामने तर्क रखा :

"युद्ध में हजारों-लाखों सैनिक मरेंगे, एक-दूसरे को मारेंगे, देश उजड़ेगा तो क्या इससे इक्ष्वाकुवंश का, दोनों भाइयों का, नाम ऊँचा होगा ? अहिंसा धर्म के प्रतिष्ठापक भगवान आदिनाथ के होते हुए यह होगा ?" बात दोनों भाइयों को भी जँच गयी। दो महाबलियों के पारस्परिक युद्ध के अभूतपूर्व दृश्य की कल्पना रोमांचक हो उठी।

दोनों पक्षों के राजा पंक्ति बाँधकर आमने-सामने द्वन्द्व-युद्ध की रंगशाला में जाकर बैठ गये। दोनों भाइयों ने अपने बल, अपनी सामर्थ्य, युद्ध-विद्या के कौशल और छिपी हुई शक्तियों को प्रयोग में लाने का निर्णय कर लिया है। एक प्रकार से अहिंसक युद्ध का क्रम निश्चित हो गया। पहले दृष्टि-युद्ध, फिर जल-युद्ध और अन्त में मल्ल-युद्ध। और, दिग्गजों की टक्कर का क्षण आ पहुँचा।

दृष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ। नेत्रों का तेज परस्पर टकराया। देखना था किसकी पलकें झुककर बरौनियों से अपने प्रतिपक्षी का चरण छूती हैं। बाहुबली जीत गए। उनकी सेना ने तुमुल हर्षनाद किया। भरत की आँखों के आगे पराजय की कालिमा लहरा गयी।

इसके बाद जल-युद्ध की बारी थी। बहुत विशाल सरोवर था—योजनों लम्बा-चौड़ा। दोनों महाबली योद्धाओं के योग्य। एक किनारे से दूसरे किनारे तक की दौड़। जल में तरह-तरह के आसनों और मुद्राओं के साथ सतरण की सामर्थ्य की चुनौती! और फिर, हथेलियों में पानी भर कर बौछार का प्रहार! बाहुबली पानी उछालते तो भरत का वक्ष और चेहरा आक्रान्त हो जाता, आँखें धुंधिया जातीं। भरत जल उछालते तो बाहुबली के वक्ष तक ही मुश्किल से पहुँच पाता। बात स्पष्ट थी। बाहुबली की ऊँचाई भरत से कहीं अधिक थी। और, जल-युद्ध में भी बाहुबली की विजय घोषित हुई।

पुनः आकाशभेदी जय-जयकार। दूसरी ओर भरत की सेना में श्मसान-सी नीरवता। भरत निराशा की सीमा पार कर, ज्वलन्त क्रोध की अग्नि-लीक में आ गये। किन्तु अभी तीसरा युद्ध शेष था।

मल्लयुद्ध। बाहुबली की विशाल काया। बलिष्ठ भुजाएँ। मांस-पेशियों का चट्टानों-सा उभार। भरत भी शक्ति के अवतार। दोनों दिग्गजों की भिड़न्त से धरा काँप गई। मल्ल-युद्ध के कौशल ने दर्शकों को चकित कर दिया। भरत, जैसे भी हो, इस दाव को जीतना चाहते थे। लेकिन, यह क्या! पलक झपकते बाहुबली ने भरत को हथेलियों पर झुलाते हुए कन्धों से ऊपर उठा लिया। अब क्या करें? जमीन

पर पटक कर आहत करने की कल्पना से मन पिघल गया। सोचा, ये मेरे बड़े भाई हैं, इन्हें ज़मीन पर पटकना क्या ठीक होगा? और, धीरे से हथेलियों को नीचे की ओर झुलाते हुए उन्होंने भरत को धरा पर उतार दिया। अब तो बाहुबली की सेना ने हर्षध्वनि से आकाश हिला दिया। दूसरी ओर फिर मरघट का-सा सन्नाटा। तभी भरत के मन के श्मशान में हज़ार-हज़ार ज्वालाएँ धू-धू कर उठीं। उसने घनीभूत क्रोध के चक्रवात में अपना चक्र चला दिया।

चक्रवर्ती का चक्र जब छूटता है तो वह विरोधी का सिर काटकर ही वापस आता है। 'हाय, भरत ने चक्र चला दिया!' लाखों कण्ठों का चीत्कार।

चक्र वेग से बाहुबली के सिर के पास पहुँचा। लेकिन, अचानक ही उसकी गति रुक गई। उसने बाहुबली के मस्तक की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और वापस आकर स्थिर हो गया।

भरत अपने क्रोध के चरम आवेग में यह भूल गये थे कि प्राण-लेवा यह चक्र अपने वंशजों पर नहीं चलता। भरत का अंग-अंग, रोम-रोम पराजय की यन्त्रणा में जलने लगा। क्रोध का नागफन अपने ही उद्धत अहंकार की शिला से टकराकर क्षत-विक्षत हो गया।

बाहुबली ने अपने बड़े भाई के पराजित, हताश, अभिशप्त, उदास चेहरे को देखा तो हृदय पसीज कर आँखों में छलछला आया।

"इसी अहंकार के दैत्य की सेवा करने के लिए भरत ने मेरे राज्य पर आक्रमण करना चाहा था? दो वीरों के आमने-सामने के व्यक्ति-युद्ध की मर्यादा भूलकर उसने चक्र का सहारा लिया? मेरे सिर को काट गिराने के प्रयत्न से नहीं चूका? धिक्कार है इस क्रोध पर, इस अभिमान और इस राज्य-लिप्सा पर!!"

बाहुबली ने प्रतिज्ञा की कि राज्य छोड़कर वह सन्यासी हो जाएंगे। वे वन में तपस्या करेंगे और उस रहस्य का पता लगाएंगे जिससे क्रोध पर विजय पायी जाती है, जिससे अभिमान को जीता जाता है, जिससे लोभ को वश में किया जाता है, जिसमें सिर्फ करुणा और प्यार का अमृतजल होता है जिससे आदमी के सूखे कण्ठ को सींचा जाता है। अपरिमित करुणा से द्रवित होकर उन्होंने भरत की ओर देखा और वन की ओर चरण बढ़ा दिये।

अब पराजित, अभिशप्त, दीन और नितान्त निराश्रित भरत अपनी टूटती हुई देह-वल्लरी को किसके सहारे थामे? उसने लपककर बाहुबली के चरण पकड़ लिये। बाहुबली सकुचाये।

"भइया, तुम चक्रवर्ती हो। अपनी मर्यादा का ध्यान करो।"

"नहीं, नहीं, मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ, तुम्हारा भाई हूँ। और तुम साथ नहीं होगे तो मेरा चक्रवर्तित्व किस काम का? कौन मुझे सहारा देगा?"

"अब नहीं भइया, मैं तो तीर्थंकर के पास भी नहीं जा रहा हूँ। स्वयं ही अपना

मार्ग बनाऊँगा। एकाकी ध्यान करूँगा। निरपेक्ष, निःसंग, स्वतन्त्र।"

लगता है यह भी एक प्रकार के अहकार की वाणी थी, जिसने गुरु को ही नकार दिया। भरत के अनुनय-विनय को भी मान नहीं दिया।

तभी महामन्त्री का स्वर सुनाई दिया, "किस आवेग में जा रहे हो, बाहुबली? भरत की बात भी नही सुनना चाहते? पर, सोचो तो, यदि तपस्या करोगे तो कहाँ करोगे? भरत की भूमि पर ही तो करोगे? यदि आहार लेना हो तो किस के साधनो का लोगे? भरत के ही तो?" इन शब्दो को सुनकर बाहुबली को शायद आक्रोश आया हो, और उत्तर देने की भावना भी जगी हो, किन्तु मन को दबाया, अपने को समझाया—"तपस्या के लिए जा रहा हूँ। कष्ट, सकट और मान-अपमान को सहना भी तो तप है। साधना यही से प्रारम्भ हो।"

बाहुबली ने मानो महामत्री का स्वर सुना ही नही। चुपचाप चले गये। दूर, वन मे। अपने ही विचारों मे मग्न। ध्यान और समाधि मे दत्तचित्त होने के लिए।

इस प्रकार बाहुबली मुनि हो गये। और, पुराणो का कहना है कि उन्होने एक वर्ष का प्रतिमा-योग धारण कर लिया, कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यान करने की प्रतिज्ञा कर ली। ध्यान की इस उत्कृष्ट मुद्रा मे जहाँ काया की सज्ञा का उत्सर्ग करना होता है उन्होने वर्षभर इतना कठोर तप किया कि दीमको ने देह मे घर बना लिया, साँपो ने चरणो मे बाँबियाँ बना ली, लताएँ शरीर पर चढ़ गईं, छिपकलियाँ देह पर घूमने लगी।

ऐसी अडिग तपस्या ने बाहुबली के भीतर एक दीप जला दिया। किन्तु बाहुबली के हृदय-क्षितिज पर साधना का वह प्रभात उदित नही हुआ जिसमे पूर्ण ज्ञान की किरणें फूटती हैं—जिसे केवलज्ञान कहते हैं, जो साधु को अर्हन्त का पद देता है, जो मोक्ष प्राप्त करने का मुख्य साधन होता है।

इधर, भरत ने विचार किया—बाहुबली प्राय' एक वर्ष से ऐसी घोर तपस्या में लीन हैं कि सारी पृथ्वी को छोडकर केवल उतनी ही धरा अपने लिए निश्चित कर ली है, जितनी पर पाँव के दो तलवे रखकर खडे-खडे ध्यान कर सके। न आहार, न जल, न सचरण, न कम्पन।

भरत का मन अपने भाई की इस असम्भव और अनहोनी तपस्या को देखकर रात-दिन चिन्ता मे डूबा रहता। इतनी घोर तपस्या करने पर भी बाहुबली को केवलज्ञान क्यो नही होता? उन्हें मोक्ष क्यो नही मिलता?

भरत अपने पिता तीर्थंकर ऋषभदेव की धर्मसभा में गये। प्रश्न किया, "प्रभो! बाहुबली एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर इतनी घनघोर तपस्या कर रहे हैं, उन्हे केवलज्ञान क्यों नहीं होता? दो तलवों भर जमीन पर खड़े हैं। ऐसी तपस्या भला कभी किसी ने की?"

भगवान् ऋषभदेव ने कहा—

"भरत, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इसी तथ्य में है कि बाहुबली पाँव के दो तलवों भर पृथ्वी पर खड़े हैं। बाहुबली को केवलज्ञान इसीलिए नहीं होता कि उनके मन में एक काँटा है, काँटे की-सी कसक है, एक शल्य है, कि जिस धरती पर उनके तलवे टिके हैं, वह धरती भी आखिर है तो भरत की ही। और यह धरती उस भरत की है जिसने इसके लिए युद्ध किया, जो चक्रवर्ती सम्राट् है। और, उस धरती पर वे खड़े हैं। बाहुबली की तपस्या के फूल को यह काँटा कुरेद रहा है, और यह भी कि वह तुम्हारे मन के सक्लेश का कारण बने। जाओ, संबोधन करो।"

भरत की आँखें भर आयीं। भगवान आदिनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त भरत वापस आकर सीधे राजभवन में गये। अपनी बहिनों—ब्राह्मी और सुन्दरी को सब वार्ता बतायी। उन्हें साथ लेकर वह चल पड़े बीहड़ वन की ओर। पहुँचे ध्यान-मग्न बाहुबली के चरणो तक। तपोवन का वातावरण देखकर मन्त्र मुग्ध हो गये। परम शान्ति और आह्लाद के अलौकिक परिवेश में करुणा और मैत्री की भावनाओ ने चर-अचर के प्राणों को स्पन्दित कर रखा था। हाथी और सिंह आत्मीय भाव से एक साथ बैठे हुए थे। जिस हथिनी ने अभी-अभी शिशु को जन्म दिया था, वह स्वय तो एक भैस के शिशु का मस्तक सूँघ कर उसे प्यार से अपना दूध पिला रही थी, और हथिनी के शिशु के मुख को एक सिहनी छाती से चिपकाये स्तन-पान कराने की चेष्टा कर रही थी। मेघों के गर्जन की लय पर मयूर नाच रहे थे और सर्पों की मण्डली कुण्डली मारे, फण उठाये झूम रही थी। बहिनो ने देखा कि सैकडो कुक्कट सर्प चरणो के पास बाँबियाँ बनाये शान्त भाव से बैठे हुए हैं। हरी-भरी माधवी लताएँ, पिप्पली लतिकाएँ, अपनी समस्त कमनीयता के साथ घेरे हुए हैं दिगम्बर साधु के पावन चरणो को, जघाओ को, भुजाओ को। बहिनो की पुलकावलि स्वय ही लता-सा विस्तार पाती गयी। बडे आदर से, सुन्दरी और ब्राह्मी ने लताओ को हटाना शुरू किया। वे अपने शरीर पर उन्हें ओढ़ती चली गयीं। लेकिन भाई को तो स्पर्श का सवेदन ही नहीं! भरत भी सोच में पड गये कि किस अतल साधना मे लवलीन हैं बाहुबली! भला भावना की ऐसी अलौकिक स्थिति मे कोई शल्य कैसे प्रश्रय पायेगा? कोई काँटा कैसे कसकेगा? पर, भगवान आदिनाथ ने जो कहा है, वह सर्वज्ञ की वाणी है। शूल की कोई-न-कोई अनी, कभी-कभी अन्तर्मुहूर्त में कसक आती होगी या सरसराती हवा की कोई हल्की-सी लहर गुजा जाती होगी महामन्त्री का वह स्वर "बाहुबली कहाँ जा रहे हो? है कही ऐसी पृथ्वी जिस पर चक्रवर्ती भरत का अधिकार न हो?"

भरत का सोच जितना गहराता, उनकी हथेली बाहुबली के दायें हाथ को उतनी ही द्रुतगति से सहलाती जाती। अब भरत के आँसू बाहुबली के चरणों का अनवरत प्रक्षालन किये जा रहे थे। सहसा ही ध्यानस्थ योगी की काया मे चेतना का एक मन्द कम्पन, रोमराजि में एक हल्का-सा स्फुरण, बरौनियो का एक शान्त

उन्मीलन, स्पन्दित हुआ। और भरत के उर में वसन्त के शत-सहस्र फूलों की सुरभि महक उठी।

तभी दोनों बहिनें—ब्राह्मी और सुन्दरी, हृदय की समस्त मंगल-कामनाओं को वाणी की मिश्री में घोलती हुई बोली

"वीरो, भइया हमारे, गज से नीचे उतरो।"

"किसने कहा? किससे कहा? मुझसे? मैं क्या हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ। दो तलवों भर धरा पर ध्यान करता रहा हूँ और ये वाणी कहती है, 'गज से नीचे उतरो!" मुनि बाहुबली के मन में बिजली-सी कौंध गई! समाधान उन्हें स्वयं ही से प्राप्त हो गया। शब्दों के अर्थ की आवश्यकता नहीं पड़ी। "सचमुच, भरत की पृथ्वी पर खड़े होने का संवेदन-शूल मुझे अहंकार के गज पर उठाये हुये है..."

इसी बीच सुनाई पड़े भरत के शब्द

"मुनिराज, भरत का यह चक्रवर्तित्व तुच्छ है। आपकी इस तपस्या पर भरत के हजार राज्य निछावर हैं। आपको मैं नमन करता हूँ।"

भरत की शान्त, गद्गद वाणी ने बाहुबली के मन को सुलझा दिया। उन्होंने आगे बढ़ने के लिए जैसे ही पग उठाया, वह वीतराग ध्यान के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर पर एक क्षण में पहुँचे गये। उन्हें केवलज्ञान हो गया। निर्वाण की ओर उनकी यात्रा द्रुततर हो गई। तीर्थंकर आदिनाथ से भी पहले वह मोक्षगामी हो गये। यह मानव की आध्यात्मिक विजय का चरम-परम उत्तुंग शिखर था।

3

सम्राट् भरत . अनासक्त योगी

भरत की जीवन-यात्रा अनेक गहरे और अन्तर्वेधी अनुभवों के कुसुमित और कंटकित मार्गों से गुजर चुकी थी। अहंकार के अणु का विध्वंसकारी विस्फोट वह देख चुके थे, सह चुके थे। अब वह चक्रवर्ती के कर्त्तव्यों का अनासक्त भाव से पालन करने लगे। उन्होंने अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मण वर्ण का निर्माण किया। यह चौथा वर्ण था। भगवान आदिनाथ शेष तीन वर्णों की स्थापना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से पहले ही कर चुके थे। सारे रत्न, सारी सम्पदाएँ और सारे भोग अब बन्धन नहीं थे। मन अब राज्य-व्यवस्था के केवल मानव-कल्याणकारी पक्षों को स्वीकारता था। धर्म का मनन, आत्म-चिन्तन और समताभाव का दर्शन उनके जीवन और क्रिया-कलाप में जन-मन को अब प्रत्यक्ष दिखाई देता। 'भरत जी घर में ही वैरागी' की कीर्ति यथार्थ पर आश्रित थी।

पुराण की कथा है कि एक बार इन्द्र की सभा में चर्चा चल पड़ी कि भरत क्षेत्र में वहाँ के चक्रवर्ती सम्राट् भरत का यशोगान इसलिए हो रहा है कि गृहस्थ होते हुए भी वे अन्तरंग से साधु हैं। राज-काज करते हुए भी वे कल्मष और अशुभ भावों से दूर हैं। स्वर्ग के सुखों में रमण करने वाले देवों को यह कल्पना विचित्र लगी। उनमें से एक देव का कौतूहल इतना उग्र हो गया कि उसने मनुष्य-लोक में आकर स्वयं भरत की परीक्षा लेना उचित समझा। एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वह देव भरत महाराज के सामने आ उपस्थित हुआ। पूछा—

"महाराज, आप चक्रवर्ती सम्राट् हैं, राज-काज चलाते हैं, आरम्भ और परिग्रह का इतना बड़ा संसार आपकी व्यवस्था में चल रहा है, आपका राज-प्रासाद भोगों और उपभोगों की सुविधा-सामग्री से भरपूर है। आप इन सबके बीच क्रियाशील हैं। फिर यह कैसे संभव है कि आप विरागी हों? क्षमा करें महाराज, इस असंभव बात को मानने का मेरा मन नहीं होता। धृष्टता न मानें, मैं इसका प्रमाण चाहता हूँ।"

महाराज भरत मुसकाये। उन्होंने अपने प्रधान अमात्य को बुलाया। वृद्ध विप्र की शका उसके सामने रखी और कहा

"इनका समाधान आप कर दें।"

विप्र ने विनम्र होकर कहा, "प्रश्न आपसे है, अनुभव आपका है, समाधान अन्य कोई व्यक्ति कैसे करेगा?"

चक्रवर्ती फिर मुसकाये। बोले—

"आप चिन्ता न करें, विप्र! मैं अमात्य को स्वय ही सब बताने वाला था कि मेरे विषय मे आपकी शका का समाधान किस प्रकार करना है। आप कल प्रात काल इनसे इनकी कार्यशाला में मिलें। मैं इन्हे प्रमाण-प्रस्तुति की विधि बता देता हूँ।"

अगले दिन प्रात काल परीक्षक विप्र, अमात्य के पास पहुँचा। अमात्य ने पास खडे दो खड्गधारी सैनिको को बुलाया। वृद्ध ब्राह्मण से कहा—'विप्रवर, आप सामने देख रहे हैं, चौकी पर यह क्या रखा है?" ब्राह्मण ने बताया—"तेल से भरा कटोरा।"

"पूरा भरा है, या कुछ खाली है?"

"कुछ खाली है।"

"तब, आप पास वाले पात्र मे से तेल उडेल कर इस कटोरे को पूरा भर लें इतना कि सारे किनारे डूबे रहे किन्तु एक बूंद भी अधिक न होने पाये कि बाहर छलके। रूई की एक बाती भी जला लें।"

बहुत सावधानी से विप्र ने एक-एक बूंद डालकर कटोरा पूरा-पूरा भर लिया, बाती जला ली, और अपनी कुशलता पर प्रसन्न होकर बोला—"अमात्य महोदय, देखिये कितनी सावधानी और सतर्कता से मैंने कटोरा भरा है। एक बूंद की जगह भी अब खाली नही, और, एक भी बूंद गिरने नही पायी। बाती भी जल रही है किन्तु आपने मुझे जिस हेतु बुलाया उसके विषय मे तो बताइये।"

"वही है यह विषय, विप्र! आपकी सतर्क दृष्टि से मैं प्रसन्न हूँ। वही अब स्वय प्रमाण खोजेगी। ऐसा कीजिए कि यह कटोरा सावधानी से अपने हाथो मे उठा लीजिए। आज आपकी अभ्यर्थना के लिए मैंने समस्त राज-प्रासाद की नाना प्रकार से साज-सज्जा करवायी है। अनेक प्रदेशो के सैनिक अपनी-अपनी रग-बिरगी वेश-भूषा मे आपके चित्त को आकर्षित करेंगे। प्रासाद-वासी आपको नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट में देने के लिए तत्पर मिलेंगे। प्रसन्नचित्त से आप उन्हें स्वीकार करते चलें। आप प्रदक्षिणा लगा आयें। केवल इतना ध्यान रखें कि तेल की एक बूंद भी छलकने न पाये। और हथेलियो के कौशल से बाती की लौ न बुझने पाये। अन्यथा इसमे बहुत विपत्ति है। ये जो असिधारी सैनिक आपके अगल-बगल चलेंगे, इन्हें मालूम है कि यदि तेल की एक बूंद छलकती है या बाती बुझती है तो

इन्हें क्या करना है। आप जैसे ही प्रदक्षिणा से लौटकर आयेंगे और महाराज भरत के सामने प्रासाद की शोभा का वर्णन करेंगे, अपने उपहारों का प्रदर्शन करेंगे, आपकी शंका का समाधान प्रत्यक्ष प्रकट हो जायेगा। उठा लीजिए कटोरा। यह यात्रा आपके लिए अब अनिवार्य हो गई है। इसमें किसी ओर से किसी छल को स्थान नहीं है। इस कार्य को कर दें।"

देव अब वचन-बद्ध था। दैवी-चमत्कार भी निषिद्ध था। एक-एक पग संभालता हुआ, कटोरे पर दृष्टि जमाये वह महल में घूमा किन्तु मन-ही-मन असिधारी सैनिकों की उपस्थिति से आतंकित रहा। वापस आकर सूर्यास्त के समय वह सम्राट् के पास पहुँचा और प्रज्वलित कटोरा उनके पास रख दिया तो उस समय उसका भाव ऐसा था मानो सिंह के पंजे से प्राण बचाकर हिरण भाग खड़ा हुआ है।

"कहो, कैसी रही यात्रा, तुम्हारी, विप्रवर ?" महाराज भरत ने पूछा।

"मैं विप्र नहीं हूँ," कहकर देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। बोला

"मुझे क्या पता महाराज, कि यात्रा क्या थी, कहाँ तक की थी, क्या साज-शृंगार था, क्या-क्या वस्तुएँ उपहार के लिए प्रस्तुत थी। मेरा तो सारा ध्यान कटोरे पर और कटोरे मे किनारो तक भरे तेल की एक-एक बूँद पर और प्रज्वलित बाती पर था। बहुत बडी विपत्ति के बीच मैंने अपने प्राणो को सुरक्षित रखा है।"

"शका का समाधान हुआ ?" महाराज ने पूछा।

"निश्चित रूप से हो गया" देव बोला। "आप सचमुच राजर्षि हैं। सारी भोग्य-सम्पदा के बीच आपका ध्यान केवल धर्म और आत्मा पर केन्द्रित है—जैसे मेरे प्राण कटोरे मे भरे तेल और बाती की लौ के ऊपर अटके रहे। असावधानी के प्रत्येक क्षण मे कर्मबन्ध का डर उपस्थित है यह अनुभूति धर्म के केन्द्रबिन्दु से आपको डिगने नही देती।"

"यही सावधानी और श्रम, श्रमण धर्म है।" देव ने मन मे सोचा और कहा, "मेरी सब जिज्ञासाएँ शान्त हो गईं। आप चिरजीवी हो"

यह कहकर देव अकस्मात् विलीन हो गया।

भरत की वैराग्य-भावना दिन-पर-दिन प्रबल होती गई, उनका आत्मचिन्तन गहन होता गया। साम्राज्य अपनी सुचारु गति से चल रहा था। निरासक्त भरत अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे।

प्रव्रज्या का एक क्षण आता है जिसे काल-लब्धि कहते हैं। एक दिन महाराज भरत दर्पण के सामने खड़े थे कि उन्हें सिर में एक श्वेत बाल दिखाई दिया। "जीवन में जरा के, वार्धक्य के प्रवेश की अगवानी इसी श्वेत पताका से होती है। जन्म-जरा-मृत्यु स्वाभाविक परिणमन है," परमार्थ में भरत की आस्था और अधिक बलवती हो गई।

भरत ने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य-भार सौंपा, स्वय मुनिव्रत धारण किया, सयम-साधना की अपूर्व क्षमता फलवती हुई कि उन्हे उसी समय मन:पर्ययज्ञान हो गया—प्राणियों की मनोभावनाओ और विचारो का प्रत्यक्ष दर्शन। फिर केवलज्ञान का सूर्य उदय हुआ और महामुनि भरत देश-देशान्तर मे जीवों को कल्याणकारी धर्म का उपदेश देने के लिए विहार करने लगे। अन्त मे, योगी भरत ने कर्मों का उच्छेद किया और वह मोक्ष की अवस्था मे अविनश्वर आत्मधाम मे स्थित हो गये।

खण्ड : दो

पुराकथा की इतिहास-यात्रा

"उत्तरापथात् दक्षिणापथम्"

1

चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय

चाणक्य की प्रतिभा का चमत्कार

आज से लगभग 2300 वर्ष पहले का भारत।

प्राचीन बिहार के गोल्ल प्रदेश के चाणक गाँव में एक भद्र-परिणामी श्रावक ब्राह्मण चणक रहते थे। उनकी पत्नी का नाम, ग्राम-निवासियों में, चणकेश्वरी प्रचलित हो गया। इन पति-पत्नी के जीवन में आनन्द का अवसर आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक ने माता का स्तन-पान करने के लिए ज्यों ही अपना मुँह लगाया कि ब्राह्मणी को एक विचित्र अनुभूति हुई। बालक के मुँह में पूरी दन्त-पंक्ति मौजूद! बालक का आकार-प्रकार और हड्डियों का गठन भी टेढ़ा लगा। वह भयभीत हुई। उसने पति को पुकारा। पति ने देखा तो वह भी आश्चर्य-चकित और दुखी!

उस दिन सौभाग्य से ग्राम के पास के वन में एक श्रमण मुनि आये थे, जिनकी वन्दना चणक कर चुका था। अपने पुत्र को गोद में लेकर ब्राह्मण, मुनि महाराज के पास पहुँचा और उन्हें बालक की दन्त पंक्ति दिखायी। साधु निमित्तज्ञानी थे। बोले—"आयुष्मन् विप्र, तुम चिन्ता न करो। यह लक्षण है राजा बनने का, यश कमाने का।" बस इतना कहा और मुनि अपने ध्यान में लीन हो गए। ब्राह्मण ने आगे कुछ पूछना चाहा किन्तु मुनि को ध्यान-मग्न देखकर वापस घर आ गया। पत्नी को बताया। पत्नी कुछ समझ न पायी। "एक निर्धन अकिंचन ब्राह्मण का पुत्र राजा बनेगा, यह कैसे संभव हो सकता है?" ब्राह्मण इस कल्पना से ही भयभीत हो गया। वह त्यागी-व्रती श्रावक था। "इस पुत्र का पालन-पोषण करते हुए हर क्षण मैं अब इसी चिन्ता में लीन रहूँगा कि मुझ व्रती ब्राह्मण के घर घोर आरम्भ और परिग्रह करने वाला, युद्ध और विजय के अभियानों के विध्वन्स का खेल रचनेवाला राजा पल रहा है, जो इसी कारण अन्त में नरक जायेगा," ब्राह्मण मन ही मन सोचता रहा।

थोड़ा स्थिर-चित्त हुआ तो उसके मन में विचार उठा—"यदि इस बालक का राजयोग इस कारण है कि इसके पूरे दाँत उगे हुए हैं, तो इस लक्षण को ही क्यों न भग कर दिया जाये ? तब राज-योग खण्डित हो जायेगा और मेरे घर-परिवार की, मेरे पुत्र के सस्कारो की रक्षा हो जायेगी ।" उसने पत्नी को विधि बता दी कि क्या करना होगा । पत्नी ने बलिष्ठ शिशु के दाँत धीरे-धीरे छैनी से घिसने प्रारम्भ कर दिये । जब सब दाँत घिसे गये, तो ब्राह्मण फिर मुनि महाराज को खोजता हुआ दूर एक वन मे पहुँचा । विधिवत् नमस्कार करके प्रश्न किया

"मुनिवर, राज-योग के लक्षणो को मैंने अपने बालक के मुँह मे से समाप्त कर दिया । सब दाँत नष्ट कर दिये, अब आप मुझे निश्चिन्त कीजिये कि मेरा पुत्र राजा नही बन पायेगा । "

"सुनो श्रावक", मुनि महाराज ने कहा । "दाँत तुमने घिस दिये, इससे वह नष्ट तो नही हुए । जड़ें तो अभी यथावत् हैं । हाँ, निमित्तज्ञान अब यह अवश्य बताता है कि जिस बालक को राजा बनना था, वह स्वय तो राजा नही बनेगा, किन्तु राज्य की जड़ें जमवायेगा । राजा को अपने प्रभाव मे रखेगा । चणी, तुम्हारा यह पुत्र चाणक्य कहलायेगा और अपनी बुद्धि से, अपनी युक्ति से, राज-नीति के कौशल से, ससार को चकित कर देगा, यशस्वी होगा ।"

गुरू को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करके ब्राह्मण घर लौट आया । अब उसके मन मे यह आश्वासन था कि पुत्र यदि यशस्वी होगा तो उत्तम है । राजा तो वह स्वय नही बनेगा किन्तु वह मन्त्री अवश्य बन जायेगा । ब्राह्मण लोग मन्त्री हुआ करते हैं । अच्छा तो यह भी नही होगा कि राज-काज के परिग्रह मे इसका मन उलझे । स्वय राजा नही बनेगा, बस इतनी ही रक्षा है । बालक का नाम चाणक्य पड गया ।[1]

धीरे-धीरे बालक बढ़ता गया । पिता को यह देखकर सन्तोष हुआ कि घर मे सम्पदा नही बढ रही है। निर्धनता ने पति-पत्नी के मन को सन्तुलित बना रखा है।

पिता की सम्पदा शास्त्र-ज्ञान थी, सो उसने बालक को गुरुओ से अनेक शास्त्र पढाये—धर्म, दर्शन, इतिहास, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द आदि 14 विद्याएँ सिखायी । बालक अद्भुत ज्ञानी हो गया । धुरन्धर विद्वान होने पर पिता ने इसका विवाह यशोमती नामक एक ब्राह्मण-कन्या से कर दिया । यशोमती अपने पति की बुद्धि और शील स्वभाव से परिचित हो गई तो प्रसन्न मन से घर गृहस्थी मे लग गयी । पति के बेडौल शरीर को उसने अपनी आँखो में नया रूप दे लिया । घर मे अभाव था, सो विपन्न होकर रहना सीख लिया ।

यशोमती एक बार अपने भाई के विवाह के अवसर पर पिता के घर आयी ।

1 हेमचन्द्राचार्य कृत जिस 'अभिधान-चिन्तामणि' मे चाणक्य की यह कथा दी हुई है, उसमें चाणक्य के आठ नाम गिनाए गए हैं—(1) वात्स्यायन, (2) मल्लिनाग (3) कुटिल या कौटिल्य, (4) चाणक्य, (5) द्रामिल, (6) पक्षिलस्वामी, (7) विष्णुगुप्त, (8) अंगुल ।

उसकी दूसरी बहनें भी विवाह में आयी थीं। सब के पास सुन्दर वस्त्र और मूल्यवान आभूषण थे। यशोमती थी एक निर्धन ब्राह्मण की पत्नी। बहिनों ने यशोमती की निर्धनता की तथा उसके पति की द्रव्य-उपार्जन की असमर्थता और कुरूपता की हँसी उड़ाई। यशोमती ने विवाह के वे दिन मन मारकर काट दिये। दुःखी होकर जब यशोमती पति के पास लौटी तो उसने अपनी व्यथा-कथा उसे सुनाई। उसके आँसुओं की धार रुक नहीं रही थी। चाणक्य ने तभी निश्चय कर लिया कि वह गांव से बाहर जाकर धन कमायेगा और सबको दिखा देगा कि उसकी क्या सामर्थ्य है। अभिमान और अहंकार की मात्रा भी चाणक्य में उतनी ही थी, जितना बड़ा उसका ज्ञान।

वह नन्दराजाओं की राजधानी पाटलिपुत्र पहुँचा। महाराजा महापद्मनन्द की दानशाला में प्रवेशकर वहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी और सबको पराजित कर दिया।

बात मगध-सम्राट् तक पहुँची। प्रसन्न होकर उन्होंने चाणक्य को दान-शाला का प्रधान बना दिया। चाणक्य का यश और प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता गया। युवराज धनानन्द को चाणक्य का अहंकार, उसकी उद्धतता और उसका बढ़ता हुआ प्रभाव पसन्द नहीं था। एक दिन युवराज ने दासी से सुना कि चाणक्य राज-सभा मे आकर स्वय महाराज के खाली सिंहासन पर बैठ गया। दासी ने चाणक्य से जब कहा कि सिंहासन को छोड़कर दूसरे आसन पर बैठें तो चाणक्य ने कहा—"इस पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा।" "तब इस तीसरे आसन पर बैठो", दासी ने कहा। "इस पर मेरा वस्त्र रहेगा, और उस अगले आसन पर मेरा यज्ञोपवीत, और उस आसन पर शास्त्र " दासी से यह घटना सुनकर युवराज का क्रोध इस सीमा तक बढ़ा कि उसने चाणक्य की चोटी पकड़कर उसे दानशाला से धक्के देकर निकाल दिया। चाणक्य ने क्रुद्ध नाग की तरह अपनी चुटिया की कुण्डली खोल दी और प्रतिज्ञा की "मैं जब तक इस समूचे नन्दवंश का नाश नहीं कर दूंगा, शिखा की गाँठ नही बाँधूंगा।" वह निकल पड़ा ऐसे होनहार बालक की खोज मे जिसमे राजत्व के गुण हों, जिसके माध्यम से वह नन्दवश का उच्छेद करके नये राजवंश की स्थापना करे। नये राजवश की स्थापना के लिए आवश्यक था कि प्रारम्भ से ही स्वय से प्रतिबद्ध व्यक्ति को राज्य-सचालन की क्षमता मे प्रशिक्षित किया जाये और उसके माध्यम से इतना सैन्य-बल एकत्र किया जाये कि नन्द राजा को युद्ध-कौशल और नीति-चातुर्य के आधार पर सिंहासन से च्युत किया जा सके।

चाणक्य घूमता हुआ हिमालय की तराई में पिप्पलीवन मे बसे मौर्यों के गण-तन्त्र में पहुँचा, जहाँ के शासक क्षात्र-धर्मी थे। वह गाँव के मुखिया के यहाँ ठहरा तो पाया कि गृहपति इस चिन्ता से ग्रस्त हैं कि उनकी गर्भवती पुत्री को यह दोहद या अन्तरंग इच्छा हुई है कि वह चन्द्रमा का पान करे।

चाणक्य को अपनी बुद्धि पर विश्वास था। उसने गृहपति को आश्वस्त कर दिया कि वह उसकी पुत्री को अवश्य चन्द्रमा का पान करवा देगा। "शर्त यह है" चाणक्य ने कहा, "जो बालक उत्पन्न हो उसकी शिक्षा-दीक्षा और उसके भविष्य के निर्माण का दायित्व मेरे ऊपर ही रहेगा। मैं जब चाहूँ, बालक को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साथ ले जाऊँगा।"

गण के मयूरो के रक्षक मौर्य गृहपति ने चाणक्य की यह शर्त मान ली। उसने सोचा, जो व्यक्ति इतना कुशल है कि मेरी पुत्री को चन्द्रमा पिला देगा वह मेरे बालक के भविष्य को भी सुन्दर बनायेगा।

चतुर चाणक्य ने भी यह सोचा कि दोहद पूरा होने से पहले ही यदि प्रतिज्ञा करवा लूँगा तो गृहपति वचनबद्ध हो जायेंगे। बाद मे ऐसी बात सामने रखूँगा तो वह धन-सम्पदा देने का विकल्प सामने रखेंगे और इच्छित उद्देश्य पूरा न हो पायेगा।

चाणक्य को ज्ञान हो गया कि जो श्रेष्ठी-पुत्री चन्द्रमा को पीने का दोहद पाल रही है, उसके गर्भ का बालक अवश्य ही प्रतापी होगा, और वही उसकी आशाओ के अनुरूप राजा बन सकेगा।

चन्द्रोदय होते ही चाणक्य ने गृहपति की गर्भवती पुत्री को छप्पर वाले कमरे मे आराम से पीढे पर बैठ जाने को कहा। हाथ मे जल से भरी थाली दे दी और कहा कि फूस की छत वाले झरोखे से जो चन्द्रमा दिखाई देता है वह जैसे-जैसे थाली मे आता जाये भगवान का नाम-स्मरण करती हुई वह चन्द्रमा को थाली मे से धीरे-धीरे पीती रहे। जब समूचा चन्द्रमा पी चुके तो आँख बन्द करके लेट जाय। मन को बहुत प्रफुल्ल और प्रसन्न रखे। उसे अनुभव होगा कि चन्द्रमा की शीतलता पेट मे हिलोरें ले रही है।

चाणक्य ने अपनी वाणी की चतुराई से और आशीर्वाद की मुद्रा से गाँव के एक आदमी को अपने साथ मिला लिया था। उसे आदेश दे दिया था कि वह फूस की छत पर दबे पाँव चढ जाये और छत पर जो झरोखा बना हुआ है, जिसमे से चन्द्रमा की किरणें नीचे घर मे पड रही हैं, उस झरोखे को धीरे-धीरे फूस से इस तरह ढकता जाये कि चन्द्रमा का प्रकाश नीचे कमरे मे क्रमश: कम होता जाये। यह ध्यान रखे कि नीचे रहने वालो को न तो हाथ की उगलियाँ दिखाई दें, न कोई शब्द सुनाई दे।

स्पष्ट है कि जब उल्लास से भरी हुई गर्भवती नारी ने यह पाया कि धीरे-धीरे जल में लहराते चन्द्रमा का बिम्ब कम होता जा रहा है और वह उतने-उतने अंश को पीती जा रही है तो उसे तृप्ति होती गई। धीरे-धीरे चन्द्रमा इतना कम हो गया कि उसका प्रकाश समाप्त हो गया और वह नारी अपार शीतल मधुरिमा की अनुभूति से भरी पलँग पर लेट गई और कुछ ही क्षणों में निद्रालोक मे चली गई।

चाणक्य का साथी विदा हो गया था। चाणक्य पूरे भरोसे के साथ स्वयं भी

विश्राम करने गृहपति द्वारा बताये गये कक्ष में चले गये थे।

प्रातःकाल चाणक्य उठे तो देखा, गृहपति स्नान-ध्यान करके स्वर्ण मुद्रायें लेकर अभिवादन के लिए खड़े हुए हैं। चाणक्य ने सारी सामग्री को अपने दाहिने हाथ की उँगलियों से छू लिया और कहा, "यह सब देवता के चरणों में अर्पित कर दो, मैं कुछ नहीं ले सकता।"

गृहपति ने उल्लास और भक्ति से नमस्कार किया। चाणक्य थोड़ी देर में तैयार होकर अपनी दैनिक पूजा-उपासना से निवृत्त होकर, आहार लेकर चले गये। बालक का जन्म माता द्वारा चन्द्रमा-पान करने के उपरान्त हुआ था अतः उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। बालक मौर्य गणतन्त्र का था अत. उसकी उपाधि मौर्य हुई।

इस कथा का अगला चरण तब प्रारम्भ हुआ जब अपनी धुन का पक्का चाणक्य आठ-दस वर्ष बाद फिर उसी गाँव में आया। एक स्थान पर बालकों को खेलता हुआ देखकर ठिठक गया, क्योंकि बालकों का दल राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था। जो बालक राजा बना हुआ था वह इतनी सहज कुशलता से शासक का अभिनय कर रहा था कि सारे बालक उसकी आज्ञा में बंधे हुए थे।

नायक बालक खेल-खेल में कभी किसी लड़के को घोड़ा बनाता, किसी को हाथी और उन पर सवारी करता। मिट्टी के घरोंदे बनाकर उन्हें गाँव मानकर उन पर हाथी घोड़े छोड़ देता। गाँवों को खेल-खेल में विजय कर लेता। अच्छा काम करने वाले साथियो को पुरस्कार देने का अभिनय करता। अकुशल योद्धाओं की प्रताड़ना करता।

चाणक्य बालक के साहस की परीक्षा लेने के लिए उसके सामने पहुँचा और बोला—"महाराज, आप इतने बड़े नरेश हैं। मुझ ब्राह्मण को भी कुछ दान में दें।"

"क्या चाहिए है तुम्हें विप्र, बोलो, तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा।"

"मुझे जो भी आप देना चाहें!"

"अच्छी बात है, देखो सामने गाँव की इतनी गायें चर रही हैं। तुम्हें जो-जो पसन्द हों ले लो।"

"किन्तु, गाँववाले क्या मुझे ये गायें ले जाने देंगे? मैं उनकी वस्तु के अपहरण करने के अपराध में दण्डित नहीं किया जाऊँगा?"

"नहीं, यह अपहरण नहीं है। राजा चन्द्रगुप्त द्वारा दिया हुआ दान है। जो कोई इसमें बाधा डालेगा, वह दण्ड का भागी होगा। तुम निःसंकोच गायें छांटकर ले जाओ। तुम दण्डित नहीं होगे।"

चाणक्य गद्गद हो गया: "इतना प्रतापी और साहसी यह बालक! उसी गाँव में जहाँ मैंने मौर्य गृहपति की पुत्री का चन्द्र-दोहद पूरा किया था।"

फिर भी पूछा, "कौन हो, वत्स तुम?"

नायक बालक की कथा सबको मालूम थी। साथियो ने बताया कि इसके माता-पिता कौन हैं और किस तरह इसकी माता को चन्द्रमा का दोहद हुआ था, किस प्रकार एक ब्राह्मण ने उस दोहद को पूरा किया था, और किस तरह उसने इसे अपने साथ ले जाने का वचन ले रखा था। पता नही वह विप्र कब आ जाये और इसे अपने साथ ले जाये।

"मैं ही हूँ वह विप्र," चाणक्य ने बताया। प्यार से उसने चन्द्रगुप्त के सिर पर हाथ फेरा और कहा—"बेटा, तुम खेल-खेल मे राजा बने हुए हो। मैंने ही तुम्हारी माता का असंभव दोहद पूरा किया था। चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें सचमुच का राजा बना दूंगा।"

चन्द्रगुप्त उस विप्र के साथ चलने को उद्यत हो गया। ऐसा ही आकर्षण था उसके व्यक्तित्व मे, ऐसी ही पक्की लगन थी चन्द्रगुप्त के मन मे राजा बनने की और ऐसा ही अटल विश्वास था चाणक्य के मन मे कि नये राज्य की प्रस्थापना इसी बालक के माध्यम से पूरी होगी।

चाणक्य ने बालको से मात्र इतना ही कहा—"जाकर बता देना इसके नाना-नानी को कि ब्राह्मण गुरु आये थे और अपने शिष्य को साथ ले गये हैं। वचन पूरा करने का समय आ गया था, अत घर वाले चिन्ता न करें।"

अनहोनी-सी बात! गुरु-शिष्य यात्रा पर चल दिये।

चाणक्य ने बहुत परिश्रमपूर्वक, सावधानी से, सारी विद्याएँ चन्द्रगुप्त को सिखायीं। कला-कौशल और अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान भी कराया। धीरे-धीरे स्थान-स्थान पर युवको की मडली चन्द्रगुप्त के नेतृत्व मे गठित होती गई।

चन्द्रगुप्त की तरुणाई का जब तेजोदय हो रहा था, उस समय भारत के पराभव की व्यथा राष्ट्र को कचोट रही थी। ईसा पूर्व 326 में भारत पर जब यूनानी सम्राट् सिकन्दर का आक्रमण हुआ तब राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। युद्ध-विद्या मे यूनानी निपुण थे। चाणक्य ने चतुराई से चन्द्रगुप्त को यूनानी सेना मे भरती करा दिया, ताकि वह सेना-सचालन की कला सीख ले। चन्द्रगुप्त को देखने-सीखने का अवसर मिला, किन्तु एक दिन उसे बन्दी बना लिया गया, इस आरोप मे कि वह गुप्तचर है। जब चन्द्रगुप्त को सेना-नायक के सामने उपस्थित किया गया, तो नायक इस युवक के साहस और आत्मविश्वास से इतना प्रभावित हुआ कि इसे बन्धन मुक्त कर दिया।

सिकन्दर लौट गया तो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में पांचाल के वाह्लीकों में यूनानियो के विरुद्ध विद्रोह की भावना जगायी। तीन वर्ष के परिश्रम के बाद मगध साम्राज्य की सीमा पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का एक छोटा-सा राज्य स्थापित करवा दिया। सैन्य-दल भी इकट्ठा हो गया क्योंकि नन्दो का शासन बहुत हिंसक और अन्यायपूर्ण हो चुका था। प्रजा आतंकित थी और कुशासन से मुक्ति चाहती

की। दो-तीन वर्ष की तैयारी के बाद चन्द्रगुप्त की सेना ने सीधे मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। किन्तु नन्दों की विशाल सेना और अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से होड़ नहीं ली जा सकी। पराजित होकर, प्राण बचाकर, चाणक्य और चन्द्रगुप्त भाग निकले। चाणक्य दु:खी हुए। युद्ध-नीति में कहाँ क्या त्रुटि रह गयी?

घूमते-घूमते चाणक्य एक दिन किसी वन-प्रान्तर के गाँव में पहुँचे। एक झोपड़ी के बाहर खड़े हो गये। देखा, एक माँ अपने बेटे को भोजन करा रही थी। बेटे ने भोजन की थाली में परोसी गयी खिचड़ी के बीचों-बीच हाथ डाल दिया था। हाथ जल गया था। बुढ़िया कह रही थी—"कैसा मूर्ख है तू, चाणक्य की तरह। उसने सीमा के राज्यों को धीरे-धीरे जीतने के बजाय सीधे पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया और हार गया। तू खिचड़ी को किनारे-किनारे से खा। तब थाली के बीच तक पहुँच जायेगा और हाथ भी नहीं जलेगा।"

यह वार्तालाप सुनकर चाणक्य की आँखें खुल गईं। अब उसने चन्द्रगुप्त के लिए पुन सेना संगठित की। सेना का सञ्चालन इस प्रकार किया कि धीरे-धीरे सीमावर्ती राज्यों को चन्द्रगुप्त जीतता चला गया और अन्त मे पाटलिपुत्र पर घेरा डाल दिया। चार वर्ष के युद्ध के उपरान्त राजा महापद्मनन्द ने धर्मद्वार पर आकर आत्म-समर्पण कर दिया। चाणक्य ने उसे प्राणो की भिक्षा दी। धन-परिवार लेकर महापद्मनन्द प्रवास मे चला गया।

ई० पू० 317 मे चन्द्रगुप्त के मौर्यसाम्राज्य की स्थापना हुई। और, नन्द-वश के नाश के उपरान्त चाणक्य ने अपनी चोटी की गाँठ बाँधी। अब चन्द्रगुप्त सम्राट् थे और चाणक्य अमात्य-गुरु। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के अमात्य के रूप में राष्ट्र की जो अपूर्व सेवाएँ की, वे चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार को भी उपलब्ध रही। किन्तु बिन्दुसार को चाणक्य का प्रभाव सहन नही हुआ। यहाँ चाणक्य का मन भी राजकाज से विरक्त हो गया था अत सत्तर वर्ष की अवस्था पार करते ही चाणक्य ने निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा ले ली।

हरिषेण-कथाकोश मे उल्लेख है कि एक बार जब मुनि चाणक्य पाँच सौ शिष्यो सहित क्रौंचपुर के वन मे ध्यान-मग्न थे, तब वहाँ के राजा सुमित्र वन्दना को पहुँचे। चाणक्य के प्रति राजा का यह भक्तिभाव देखकर राजा का अमात्य सुबन्धु द्वेष से भर गया। एक बार जब मुनि चाणक्य उपलो के ढेर पर बैठे निर्वि-कार भाव से ध्यान कर रहे थे तो सुबन्धु ने कुचक्र द्वारा उपलों में आग लगवा दी, यद्यपि दिखाने के लिए वह पहुँचा था मुनि-वन्दना के लिए। चाणक्य समाधि में स्थिर रहे और उन्होंने उसी अवस्था में शान्तचित्त से शरीर त्याग किया। कहते हैं, क्रौंचपुरी के दक्षिण में आज भी चाणक्य की समाधि पूजी जाती है।

कन्नड कृति 'वड्डाराधने' मे भी चाणक्य के कृतित्व का उल्लेख सम्राट् चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु की कथा के प्रसग में आया है। चाणक्य की प्रतिभा

के वरदान से चन्द्रगुप्त मौर्य का जो व्यक्तित्व विकसित हुआ और उसके पौरुष ने देश को जो एकछत्र साम्राज्य का बोध दिया वह देश के आत्म-सम्मान की रक्षा का स्वर्णिम युग है। चन्द्रगुप्त मौर्य इतिहास-कालीन भारत का प्रथम सम्राट् है। जो राष्ट्र छिन्न-भिन्न और पराधीन हो गया था उसमें चन्द्रगुप्त ने नयी प्राण-चेतना जगायी थी। उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश की यवन, काम्बोज, पारसीक, सबर और म्लेच्छ कहलाने वाली जातियो की सेना तैयार की थी। अनेक युद्धो के सफल अभियान से सम्पूर्ण भारत को एक विशाल साम्राज्य के रूप मे सगठित एवं संचालित किया था। विन्सेंट स्मिथ ने अपने इतिहास मे लिखा है—

"दो हजार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस देश की उस वैधानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था जिसकी लालसा मे शताब्दियो बाद का ब्रिटिश साम्राज्य आहे भरता रहा और जिसे सोलहवी-सत्रहवी सदियो के मुगल सम्राटो ने भी कभी पूर्णता से प्राप्त नही किया।"

जैनेतर स्रोतो मे कौटिल्य-अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य के सम्बन्ध मे एक प्रसग इस प्रकार आता है

चाणक्य ने अनेक बार चन्द्रगुप्त के प्राणो की रक्षा की। भारतीय इतिहास का वह ऐसा समय था जब राजशासन द्वारा किन्ही किन्ही अत्यन्त रूपवती कन्याओ का लालन-पालन इसप्रकार किया जाता कि उनके आहार-पान मे धीरे-धीरे विष का सचार होता रहे, और वे विष का प्रभाव इस सीमा तक ग्रहण करती चली जायें कि स्वय दोष से मुक्त रहे, किन्तु जो व्यक्ति उनके ससर्ग मे आये उस पर विष का प्रभाव छा जाये। नन्द राजा के मन्त्री ने षड्यन्त्र किया कि इस प्रकार की एक विषकन्या को विजय-अभियान से लौटते हुए चन्द्रगुप्त के रथ के आगे भेज दें। किन्तु विष कन्या जब चन्द्रगुप्त के रथ के सामने आयी तो चाणक्य ने उसे चन्द्रगुप्त के रथ पर बैठने से रोक दिया और चन्द्रगुप्त के साथी राजा पर्वतक को आज्ञा दी कि इस रूपवती तरुणी को वह स्वीकार करे। राजा पर्वतक चन्द्रगुप्त के आक्रमणो का सहयोगी था, इसलिए उसे आधे राज्य का स्वामी होना था। पर्वतक ने ज्यो ही अदम्य-आवेग मे विषकन्या का हाथ पकडा, विषकन्या के पसीजे हुए हाथ का पसीना उसे लग गया जिससे पर्वतक पर तत्काल विष का प्रभाव पडने लगा। धीरे-धीरे उसका कण्ठ सूखने लगा। उसने चन्द्रगुप्त को सहायता के लिए पुकारा। चन्द्रगुप्त ने विष दूर करने वाले वैद्यो को तत्काल बुलाना चाहा किन्तु विष का प्रभाव इस सीमा तक बढ गया था कि कोई भी उपचार नहीं किया जा सका। इतिहासकारों ने चाणक्य के इस व्यवहार का यह अर्थ लगाया कि चन्द्रगुप्त की प्राणरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि विषकन्या पर्वतक के पास जाये, क्योंकि राजनीति के नियम के अनुसार जब दो राजा आधे-आधे राज्य के अधिकारी होते हैं तो एक न एक दिन आपस में उनमें युद्ध ठनता ही है।

इस प्रसंग में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा में एक विचित्र उल्लेख है कि चाणक्य ने भविष्य में विषकन्याओं के प्रभाव से चन्द्रगुप्त को सुरक्षित रखने के लिए यह व्यवस्था कर ली थी कि चन्द्रगुप्त के आहार मे धीरे-धीरे विष की मात्रा बढ़ती रहे और वह विष का इतना अभ्यस्त हो जाये कि यदि कोई विषकन्या उसके सम्पर्क में आये तो भी चन्द्रगुप्त सुरक्षित रहे। चन्द्रगुप्त जिस प्रकार विष के प्रभाव से सुरक्षित था, उसकी कथा इस प्रकार है :

सम्राट् चन्द्रगुप्त एक दिन आहार कर रहे थे कि उस समय उनकी गर्भवती राजमहिषी के मन में दोहद उत्पन्न हुआ कि वह सम्राट् के साथ भोजन करे। अपनी प्रबल इच्छा के कारण महारानी ने चन्द्रगुप्त की थाली में से भोजन का एक कौर उठाकर खा लिया। भोजन मे मिले हुए विष का प्रभाव महारानी के शरीर पर छा गया और वह अचानक मूछित हो गई। महाराज चन्द्रगुप्त ने महारानी की प्राण-रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु वे महारानी की आकस्मिक अस्वस्थता का कारण न जान सके। चाणक्य समझते थे कि महारानी के अचानक रोग-ग्रस्त होने का वास्तविक कारण क्या है। चाणक्य ने तत्काल शल्य-चिकित्सा का प्रबन्ध किया और गर्भ में स्थित बालक को निकलवाकर उसके प्राण बचा लिये गये। महारानी की मृत्यु हो गई। माँ ने जो विषैला भोजन खाया था, उसका प्रभाव बालक पर कुछ विशेष नही हुआ, केवल उसके माथे पर एक नीला निशान बन गया। ललाट पर उभरे नीले बिन्दु के कारण चन्द्रगुप्त ने बालक का नाम बिन्दुसार रखा।

इतिहास मे बिन्दुसार अपने राज्य-विस्तार के लिए और जैनधर्म की प्रभावना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभी हम केवल चन्द्रगुप्त मौर्य की ही बात कर रहे हैं।

2

सस्कृति के शिलापट पर इतिहास की आत्मकथा

मानव सभ्यता के आदिकाल की जिस पौराणिक पृष्ठभूमि का वर्णन हमने प्रारंभिक खण्ड मे किया है, चक्रवर्ती सम्राट् भरत का वह युग हमे आधुनिक इतिहास की दसवी शताब्दी के उस बिन्दु से जोडता है, जब दक्षिण कर्नाटक के प्रसिद्ध सेनापति चामुण्डराय ने भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति की स्थापना श्रवणबेलगोल मे विन्ध्यगिरि पर की। यही श्रवणबेलगोल हमे ले जाता है भारतीय इतिहास के उस स्वर्णिम अतीत मे, जब आधुनिक भारत के प्रथम सम्राट्, चन्द्रगुप्त मौर्य अपने पूज्यपाद गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य के रूप मे यहाँ चन्द्रगिरि पर्वत पर तपस्या करने आये और यही पर गुरु-शिष्य ने समाधिमरण किया।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनो इतिहास-पुरुष हैं। प्राचीन शास्त्रो और लोकगाथाओ मे हजारो वर्ष से समाविष्ट उनके जीवन की कथा का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है सम्राट् चन्द्रगुप्त के नाम से प्रसिद्ध चन्द्रगिरि पहाडी के उस प्राचीन शिलालेख मे, जो लगभग छठी शताब्दी मे उत्कीर्ण किया गया था, भगवान बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व।

चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसका पूरा पाठ प्रस्तुत करना, उसकी कथा का विश्लेषण करना, प्रत्येक इतिहासप्रेमी, साहित्यप्रेमी और धर्मप्रेमी व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

इस प्रयोजन से हमने चार काल्पनिक पात्रो के एक दल को अध्ययन का साधन बना लिया है जो एक अन्वेषक दल के रूप मे दक्षिण भारत की अपनी सांस्कृतिक यात्रा के उद्देश्य से श्रवणबेल्गोल की चन्द्रगिरि पहाडी पर आ पहुँचा है। सुविधा के लिए इन्हें कोई भी नाम दिये जा सकते हैं। किन्तु हम प्रत्येक के ज्ञान-गुण के आधार पर अलग-अलग नाम इस प्रकार देंगे

वाग्मी प्राचीन कन्नड के ज्ञाता। सस्कृत, प्राकृत के विद्वान्।

पुराविद् इतिहास और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान्।

भूषण : जैन-तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ।

अनुभा : शोध-कार्य में रुचि लेने वाली एक विश्वविद्यालयीय छात्रा।

जैसाकि इनके परिचय से स्पष्ट है, हम मान लेते हैं कि इस दल के काल्पनिक सदस्यों ने अपने-अपने विषय के दृष्टिकोण से कर्नाटक के साहित्य, इतिहास, कला-पुरातत्त्व और सामाजिक मान्यताओ का अध्ययन पुस्तकों के माध्यम से कर लिया है। वे जानते हैं कि .

- कर्नाटक का प्राचीन साहित्य श्रमण मुनियों और जैन धर्मानुयायी पण्डितो की देन है।
- उन्हें मालूम है कि कन्नड भाषा और व्याकरण का प्राथमिक स्वरूप प्राचीन जैन विद्वानों ने निश्चित किया है।
- वे पढ़ चुके हैं कन्नड का वह अधिकांश पुराण और कथा-साहित्य, जो जैन तीर्थंकरों, आचार्यों और धार्मिक पुरुषो के कथानको पर निर्मित हुआ है।
- जैन तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्त तथा श्रावकों और श्रमणो के आचार का उन्हे बोध है।

यह दल अब प्रत्यक्ष देखना चाहता है इतिहास के जीवन्त प्रमाण जो कर्नाटक के पर्वतो, गुफाओ, शिलालेखो, मन्दिरो, मानस्तम्भो तथा भण्डारो मे सुरक्षित ताडपत्रो पर लिखे प्राचीन शास्त्रो के रूप मे उपलब्ध हैं।

अब हम स्वय भी कल्पना मे इस दल के साथ हैं।

[श्रवणबेल्गोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर स्थित एक शिलालेख 'फ्लैश लाइट' (आलोक-सम्पात) मे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। पण्डित वाग्मी उसका एक अश पढ़ रहे हैं]

वाग्मी 'विविध-तरुवर-कुसुमदलावलि-विरचना-शबल-विपुल-सजल - जलद-निवह-नीलोत्पल-तले, वराह-द्वीपि-व्याघ्र-ऋक्ष-तरक्षु-व्याल-मृगकुल-उपचित-उपत्यक-कन्दर-दरी - महागुहा - गहनाभोगवति समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि '

अनुभा · पण्डितजी, कितना सुन्दर पढ़ते हैं आप, इस प्राचीन कन्नड लिपि को।

वाग्मी बिटिया, मेरा पढ़ना क्या ? सुन्दर तो है इस शिलालेख का काव्य, इसकी सरस, सरल, प्रवाहमय भाषा, जो सुन्दरतम शब्दावलि मे चित्र पर चित्र बनाती चलती है।

पुराविद् . सच बात तो यह है कि इस ललित पदावलि मे कर्नाटक का समूचा प्राकृतिक वैभव बोल रहा है। ये सब विविध प्रकार के सुन्दर वृक्ष, ये झूलती हुई फूलो भरी डालियाँ···(रुककर, वाग्मी से) वाग्मीजी, यह क्या वर्णन है ? 'शबल-विपुल-सजल-जलद नीलोत्पल-तले·· '

भूषण : अर्थ स्पष्ट होगा यदि ऊपर की पंक्ति भी पढ़ लें और उसे इसके साथ

मिला लें—'अवनितल-ललामभूते अस्मिन् कटवप्र-नामक-उपलक्षिते' अर्थात् समस्त पृथ्वी तल का शृगार है यह कटवप्र पर्वत। कटवप्र नाम है इस चन्द्रगिरि पहाड़ी का जिसे चिक्कबेट्ट (छोटी पहाडी) भी कहते हैं। इसे ही कहते हैं, तीर्थगिरि और ऋषिगिरि।

वाग्मी नि सन्देह। आपने अच्छा सकेत दिया, श्रुतज्ञजी। आलेख मे वर्णन है कटवप्र की इन शिलाओ का। देखिए, कैसी सुन्दर उपमा है—शिलाएँ श्यामल हो गई हैं, विपुल जल से भरे बादलो की भाँति। नाना प्रकार के वृक्षो पर खिले फूलो और पत्तो की पक्ति-रचना ने इन्हे रग-बिरगा बना दिया है। फैले हुए हैं पठार और घाटियाँ, जिनमे हैं—कन्दराएँ, बडी-बडी गुफाएँ। दुर्गम स्थान पर विचर रहे हैं वराह, चीते, शेर, रीछ, भालू, साँप और मृग-दल।

अनुगा बहुत सुन्दर! पण्डितजी, और पढ़िये ना! यह हुआ प्रकृति का चित्रण। ग्राम, नगर और जन गण के विषय मे भी कुछ कहा है?

पुराविद् वाग्मीजी, अनुगा को बीच मे से यह पक्ति सुनाइये। (संकेत से बताते हैं)

वाग्मी हाँ, यह है—'क्रमेणैव जनपदम्, अनेक-ग्राम-शत सख्यम्, मुदित-जन-धन-कनक सस्य-गो-महिषा-अवि-कुल-समाकीर्णम्।'

अर्थ है—कर्नाटक का यह जनपद जिसके सैकड़ो गाँवो मे रहते हैं प्रसन्न मन वाले मनुष्य, जिनके पास धन है, धान्य है, सोना है, गाय और भैसो का दल है, बकरियाँ हैं, भेडें हैं।

अनुगा गाय, भैस, सोना! और, भेड-बकरियाँ भी!

श्रुतज्ञ पुराविद्जी, आपने ध्यान दिया होगा, यह वर्णन किस शब्द से प्रारम्भ होता है? 'क्रमेणैव जनपदम्' और वाग्मीजी ने जो अन्तिम शब्द अभी नहीं पढा—वह है, 'प्राप्तवान्' अर्थात् क्रम-क्रम से जनपद, नगर-ग्राम होते हुए इस कटवप्र स्थान पर पहुँचे। प्रश्न है, कौन पहुँचे?

अनुगा अच्छा, यह तो कोई कथा उभर आयी इस शिलालेख में?

पुराविद् हाँ अनुगा, यह ऐसी कथा है जो भारतीय इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है। मैं इस कथा को जानता हूँ किन्तु इसका प्रमाण देखना चाहता था, सो यहाँ आकर मिल गया। वाग्मीजी, जरा पढ़िये तो ऊपर का यह अश जिसका सम्बन्ध 'प्राप्तवान्' से है—कि 'वह यहाँ पहुँचे।'

वाग्मी 'सर्वसघ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थित क्रमेणैव जनपदम् अनेक-ग्राम' 'इत्यादि यह मैं पढ चुका हूँ। 'समाकीर्णं प्राप्तवान्।'

पुराविद् मिल गया कथा का मूल सूत्र—'उत्तरापथ से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए क्रम-क्रम से जनपद, नगर, ग्राम पार करते हुए—यहाँ इस कटवप्र

पर्वत पर आ पहुँचे। अब, वाग्मीजी जरा और ऊपर से इस लेख को पढ़ लें—यहाँ पहुँचने वाले महापुरुष का नाम स्पष्ट हो जायेगा। कथा का संकेत भी मिल जायेगा।

वाग्मी : 'गुरु-परम्परीण-क्रमाभ्यागत-महापुरुष-सन्तति-समवद्योतित-अन्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयिन्याम् अष्टांग-महानिमित्त-तत्त्वज्ञेन, त्रैकाल्य-दर्शिना निमित्तेन द्वादश-संवत्सर-काल-वैषम्यम् उपलभ्य कथिते सर्वस्संघ उत्तरापथात् दक्षिणापथम् प्रस्थितः।'

श्रुतज्ञ : हाँ, यही कथा है जैन शास्त्रों और पुराणों में।

पुराविद् : श्रुतज्ञजी, यहाँ तो वह पौराणिक कथा इतिहास के स्वरों में पर्वत के हृदय से बोल रही है।

अनुगा : इसका अर्थ तो बताइये, वाग्मीजी।

वाग्मी : सुनो। "प्राचीन गुरु-परम्परा के क्रम में जिन महापुरुष का नाम आचार्यों की नामावलि में आता है उन त्रिकालदर्शी अष्टांग महानिमित्त के ज्ञानी आचार्य भद्रबाहु स्वामी के निमित्त-ज्ञान में यह सूचना प्रकट हुई कि—

'उज्जयिनी में, (जहाँ वह धर्मोपदेश कर रहे थे, और समस्त उत्तरांचल में), बारह वर्ष का वैषम्य अर्थात् अकाल पड़ने वाला है। इसलिए वे अपने संघ को उत्तरापथ से दक्षिण की ओर ले गये, क्रम-क्रम से यात्रा करते हुए यहाँ पहुँचे।"

अनुगा : सारा संघ यहाँ आकर रुक गया?

पुराविद् : नहीं। कथा का वह अंश भी इसी शिलालेख में होना चाहिए। शिलालेख के अन्त में क्या लिखा है, वाग्मीजी?

वाग्मी : समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि जीवित-शेषम् अल्पतर कालम् अवबुध्य, अध्वनः सुचरित-तपस्समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य, निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येण एकेन, पृथुलतर-आस्तीर्ण-तलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्य आराधितवान्, क्रमेण सप्त-शतम् ऋषीणाम् आराधितम् इति।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दूँ कि 'शिष्येण एकेन' का सन्दर्भ है उस पंक्ति में जो प्रारम्भ होती है अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रो नाम अवनितलो-ललामभूते"" आदि जो कह चुका हूँ।"

श्रुतज्ञ : यह सुनकर तो मेरा हृदय गद्गद हो गया है। वाग्मीजी, इसका अर्थ मैं बता दूँ अनुगा को?

वाग्मी : अवश्य, आपकी तो भावनाओं में यह कथा रची-बसी है।

श्रुतज्ञ : मैं विशेष रूप से इसलिए यह सब कह रहा हूँ कि इस कथा के इस अंश

को मैंने अपने आधुनिक शैली के खंड-काव्य में इस प्रकार निबद्ध किया है —

कटवप्र के उत्तुंग शिखर पर
आ चुके हैं त्रिकालदर्शी आचार्य भद्रबाहु ।
जान गये हैं निमित्त-ज्ञान से वह
कि अल्प रह गई है आयु शेष,
समय है निकट, कर्मों की निर्जरा का,
समाधि में तल्लीनता का ।
छोड़ दिया उन्होंने सब को,
कर दिया विदा समग्र शिष्यमंडली को
कि बढ़ जाये वह आगे,
नये आचार्य की अनुज्ञा में ।
साथ रह गया है केवल एक शिष्य
दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र,
(इतिहास-नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त) ।
गुरु की सेवा का एकाकी पुण्य अवसर
छोड़ा नहीं उस साम्राज्य-त्यागी ने ।
सम्यक् चारित्र की आराधना से सदा पवित्र
बैठ गये गुरु, विस्तीर्ण शिलाओं के
शीतल पटल पर, सन्यास धारण कर,
समाधिमरण हेतु ।
कालान्तर में इसी कटवप्र से
समाधि प्राप्त की सात सौ ऋषियों ने ।

अनुजा : कितना पवित्र है गिरिश्रृंग ! बार-बार नमस्कार करने को मन होता है ।

अग्रज मेरा मन अटक गया है शिलालेख की पहली पंक्ति पर, उसके पहले दो शब्दों पर ·
'सिद्ध स्वस्ति' ।

अनुजा दोनों शब्द कितने अर्थपूर्ण हैं । 'सिद्धं, अर्थात् सब कार्य सिद्ध हों और 'स्वस्ति' अर्थात् सबका कल्याण हो ।

अग्रज इसको यों समझना चाहिए कि 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान को नमस्कार हो । सिद्ध का अर्थ सिद्ध परमेष्ठी । जैन-धर्म की परम्परा का है यह शब्द ।
शिलालेख का पहला श्लोक भगवान महावीर की श्रद्धा-स्मृति में है ।

वाग्मीजी, देखिये इसे ।

वाग्मी : (पढ़ते हैं)

जितम्भगवता श्रीमद्-धर्म-तीर्थ-विधायिना ।
वर्द्धमानेन सम्प्राप्त-सिद्धि-सौख्यामृतात्मना ॥

श्रुतज्ञ : अर्थात् "जो श्रीमान् धर्म-तीर्थ के विधायक हैं और जिनकी आत्मा ने सिद्धि-सौख्य के अमृत को प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान वर्द्धमान की जय ।"

पुराविद् : वाग्मीजी, जब आप प्रारम्भ के अंश पर आ ही गये तो आगे का वह गद्य भाग भी पढ़ दीजिये जिसमें भगवान महावीर के उपरान्त उनके गणधर-शिष्यों की परम्परा का उल्लेख है ।

वाग्मी भगवान महावीर की शिष्य परम्परा गौतम गणधर से भद्रबाहु स्वामी तक क्रमबद्ध रूप मे यहाँ दी गई है । इसे पढे देता हूँ, किन्तु जिनकी शिष्यो की पट्टावली यहाँ दी गई है उन भगवान महावीर का काव्य-मय वर्णन तो पहले देख लीजिये :

"अथ खलु सकल-जगद्-उदय-करणोदित-निरतिशय-गुणास्पदीभूत-परमजिन-शासन-सरस्समभिवर्द्धित-भव्यजन-कमलविकसन-वितिमि-रगुण-किरण-सहस्र-महोति-महावीर-सवितरि परिनिर्वृते ।"

श्रुतज्ञ भगवान महावीर की उपमा यहाँ सूर्य से दी गई है—सूर्य जैसे सारे जगत् मे प्रकाशोदय को सम्पन्न करने वाला है, वैसे ही भगवान महा-वीर सकल जगत् का उदय, आत्मा का अभ्युदय, करने वाले हैं । जिस प्रकार सूर्य कमलो को विकसित करता है, उसी प्रकार भगवान महा-वीर भव्य जनो के हृदय-कमल को विकसित कर देते हैं । कमल जिस प्रकार सरोवर मे खिलते हैं, उसी प्रकार भव्यजन के मन भगवान जिनेन्द्र की वाणी के सरोवर मे प्रफुल्ल रहते हैं । सूर्य जैसे अस्त होता है, उसी प्रकार गुणो की सहस्र किरणो का प्रसार करने वाले भगवान महावीर का परिनिर्वाण होने पर

अनुगा शिलालेख में तो आगे अनेक नाम पढे जा सकते हैं ।

पुराविद् हाँ, यही शिलालेख का ऐतिहासिक अंश है । वाग्मीजी इसे सुनायेंगे ।

वाग्मी इसमें जो लिखा है उसका सन्धि-विच्छेद करके पढ़ रहा हूँ ।

'भगवत्-परम-ऋषि-गौतम-गणधर-साक्षात्-शिष्य-लोहार्य्य-जम्बु-विष्णुदेव-अपराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिल-आदि-गुरुपरम्परीण-क्रम-अभ्यागत-महापुरुष-सन्तति-समवद्योतित-अन्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयि-न्याम्...'

श्रुतज्ञ . हाँ ठीक, भगवान् परम ऋषि गौतम गणधर के साक्षात् शिष्य लोहार्य फिर जम्बु, फिर विष्णुदेव, फिर अपराजित आदि के नाम गुरु-शिष्य-परम्परा के क्रम से भद्रबाहु-स्वामी तक गिना दिये हैं और लिखा है कि यह गुरु-शिष्य परम्परा, सन्तान की तरह, इस नामावलि मे सदा द्युतिमान् है ।

अनुगा · भद्रबाहु स्वामी के नाम के साथ ही उस कथा का सदर्भ आ गया है जिसे आपने पहले इसी शिलालेख से पढकर बताया कि भद्रबाहु स्वामी ने अष्टांग-निमित्तज्ञान से जाना कि उत्तराखण्ड में बारह वर्ष का अकाल पडने वाला है आदि ।

पुराविद् यह यहाँ का प्राचीनतम शिलालेख है—छठी शताब्दी का । और, है सबसे महत्वपूर्ण । 'शिलालेख सग्रह' मे इसका पहला क्रमांक है ।

अनुगा मेरा सौभाग्य है कि आप सबकी कृपा से अब मैं यह समूचा शिलालेख पढ़ सकती हूँ । इसका पूरा अर्थ भी स्पष्ट हो गया है ।

वाग्मी स्वय चन्द्रगुप्त मौर्य का इतिहास-काल, भद्रबाहु स्वामी की दक्षिण-यात्रा, श्रवणबेलगोल की पावन भूमि की प्राचीनता, भद्रबाहु स्वामी की तपस्या और समाधिमरण की पुण्य-स्थली, और 700 मुनियो के समाधिमरण का स्मारक यह तीर्थ !

पुराविद् और, प्रकृति का हृदयग्राही वर्णन, काव्य का चमत्कार, भाषा का प्रवाह .

श्रुतज्ञ और, महत्वपूर्ण बात यह कि उत्तर और दक्षिण भारत को सस्कृति के एक सूत्र मे गूथने वाली ऐतिहासिक कथा का जीवन्त प्रमाण ।

अनुगा . शिलालेख के अन्त मे लिखा है जिसे मैं भी पढ़ सकती हूँ—
"जयतु जिनशासनम् इति ।"

3

जैन संस्कृति की सार्वभौमिकता के संवाहक आचार्य भद्रबाहु

१

राजनीति से विरत होकर अन्त में चाणक्य ने स्वयं मुनि दीक्षा ले ली—इस कथा से हम परिचित हो चुके हैं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का क्या हुआ ? वह 25 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठे। उन्होंने लगभग 44 वर्ष की आयु मे अपने पुत्र बिन्दुसार का राज्याभिषेक कर दिया, और स्वयं मुनिधर्म में दीक्षित हो गये। उनके दीक्षा-गुरु थे आचार्य भद्रबाहु।

जिस प्रकार साम्राज्य-संस्थापना के लिए चाणक्य ने बालक चन्द्रगुप्त को खोज लिया था, उसी प्रकार भद्रबाहु* को खोज निकाला था उनके गुरु श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने—भगवान महावीर के गणधर गौतम स्वामी की आचार्य परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए, कल्याणकारी धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए।

श्रवणबेलगोल के पाषाण-फलको मे उत्कीर्ण इतिहास

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कथा प्राचीन जैन शास्त्रों और पुराने अभिलेखो मे

---

*यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु नाम के कई आचार्य हुए है अत, जिन भद्रबाहु आचार्य का सदर्भ हमने दिया है उनकी काल गणना अथवा पट्टावली के विषय मे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आम्नायो की मान्यता मे भेद है।

इसी से संबधित यह तथ्य भी है कि भद्रबाहु का आचार्यत्व-काल दोनों आम्नायों में तो भिन्न है ही, ऐतिहासिक काल-गणना के अनुसार भी अन्तर है। विद्वान शोध-खोज में अभी भी लगे हुए हैं।

दिगम्बर मान्यता आचार्य-काल	श्वेताम्बर मान्यता आचार्य-काल	इतिहाससम्मत मान्यता चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य
वी० नि० स० 133 से 162	वी० नि० सं० 156 से 170	
ई० पू० 394 से 365	ई० पू० 371 से 357	ई० पू० 321 से 298

श्वेताम्बर मान्यता को आधार मानकर समीकरण के समीप पहुँचा जा सकता है।

—डा० हीरा लाल जैन की टिप्पणी के आधार पर

तो उपलब्ध है ही, इस कथा का एक ऐतिहासिक आधार भी मिला है—श्रवणबेल्गोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित चन्द्रगुप्त बसदि (मन्दिर) के पाषाण-फलकों पर। वहाँ यह कथा मूर्ति-चित्रो के रूप मे फलको पर उत्कीर्ण है।

घटनाओ का क्रम जिस रूप मे उत्कीर्ण है उनका उसी क्रम से वर्णन करते हुए हम उससे सम्बन्धित फलक का क्रमाक भी कोष्ठक मे देते जा रहे हैं।

गोवर्धनाचार्य और भद्रबाहु

श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य कुण्डवर्धन नगर के एक उद्यान मे विराजमान हैं। एक भक्त उनकी अर्चना कर रहा है (फलक-1)। कुण्डवर्धन की प्रजा सुख-शान्ति-पूर्वक रह रही है (2)। नगरी मे उत्साहपूर्ण चर्चा है कि दिगम्बर मुनि गोवर्धनाचार्य पधारे हैं (3)। वरिष्ठ नागरिक उनकी अभ्यर्थना के लिए निकल पड़े (4)। पीछे-पीछे आचार्य के शिष्यो की मण्डली आ पहुँची (5)। मुनिसघ के आगमन की चर्चा राजपुरुषो और सेवको मे भी पहुँची (6)। सबने मुनिसघ का स्वागत किया (7-8) और तब आचार्य ने नगर-जनो को धर्म-चर्चा का लाभ दिया (9)। स्वागत करने वाले व्यक्ति मुनिसघ का घेरा बनाकर अगवानी करते हुए चल पड़े (10)। मुनिसघ उन स्वागतकर्त्ताओ के पीछे-पीछे प्रस्थान करने लगा (11)। तभी एक राजपरिवार मुनियो की अभ्यर्थना के लिए आ पहुँचा (12)। वह भक्ति से आचार्य महाराज के चरणो की पूजा करके सघ के साथ हो गया (13)। मुनिसघ अब आगे बढ़ गया (14)। वन का अधिकारी मुनिसघ के अचानक आगमन से विस्मित हो गया (15)। मुनिसघ को मार्ग बताने के लिए स्वय वनदेवता आ गये। उन्होने वनपालक को आदेश दिया कि मार्ग के वृक्ष काटकर साफ कर दें। मार्ग मे पड़ने वाले वृक्ष काटे जाने लगे (16)। वन-पालक मार्ग-शोधन मे लग गये। आचार्य ने उनको वृक्ष काटने से रोका (17)। तब तक वन-पालक ने अन्तिम पेड़ काटकर मार्ग साफ कर दिया। आचार्य का मन खिन्न हुआ (18)। गोवर्धनाचार्य एक मन्दिर के सामने ध्यानस्थ बैठ गये (19)।

तदुपरान्त मुनिसघ आगे बढ़ा (20)। अनेक राजपुरुष और प्रजागण उनकी अगवानी करने को आ उपस्थित हुए। ये सब कोटिपुरवासी उन साधुओ की वन्दना मे मग्न हो गये (21)। कोटिपुर के राजा पद्मधर का उत्तुंग भवन शोभित था (22)। यहाँ के निवासी मुनि-भक्त थे (23)। गोवर्धनाचार्य वनपालक के साथ कोटिपुर के उपान्त मे पहुँचे (24)। आचार्य की शान्त मुद्रा को देखकर शिकारी लोग भी समूह मे सम्मलित हो गये (25)। तभी एक दम्पती ने आकर आचार्य महाराज की अर्चना की (26)। मुनिसंघ ने आगे गमन किया (27) और, अगवानी करने वाले साथ-साथ चल पड़े (28)। तभी मुनिसघ को एक मन्दिर दिखायी दिया (29)। कोटिपुर के निवासियो का दैनिक जीवन शान्तिपूर्ण था

(30)। मुनिसंघ आगे-आगे बढ़ता गया (31)। उसने कोटिपुर के समीपवर्ती मन्दिर में विश्राम किया (32)। कोटिपुर के ब्राह्मण सोम शर्मा और पत्नी सोमश्री के बालक का नाम था भद्रबाहु (33)। सोमशर्मा इतने ज्ञानी थे और उनका इतना मान था कि राजपुरुष भी उनके पास आते थे (34)। अभ्यागतों को आते देखा तो उनकी पत्नी सोमश्री स्वागत के लिए उद्यत हुई (35)। तभी समाचार आया कि श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य का केशलोंच आरम्भ हो गया है। समाचार सबके लिए हर्षदायक हुआ। धर्म की प्रभावना हुई (36)।

एक दिन विहार करते हुए आचार्य गोवर्धन ने एक बालक को खेलते हुए देखा। आचार्य गोवर्धन ने बालक के लक्षण देखकर निमित्त-ज्ञान से जाना कि यही उनकी आचार्य और शिष्य-परम्परा में पाँचवाँ श्रुतकेवली भद्रबाहु होगा (37)। गोवर्धन आचार्य ने भद्रबाहु की शिक्षा का पूरा दायित्व ले लिया (38)। भद्रबाहु गोवर्धन आचार्य के साथ संघ में प्रविष्ट हो गये। धीरे-धीरे शास्त्रों के ज्ञान में वे निष्णात हो गये (39)।

समय बीतने पर भद्रबाहु ने गोवर्धनाचार्य से मुनिदीक्षा ली। मुनिचर्या के अनुसार वे आहार-विहार करने लगे (40)। भद्रबाहु के गुणों और तपस्या के कारण उनके अनेक शिष्य बन गये और सर्वत्र उनका स्वागत होने लगा (41)।

आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य

विहार करते हुए भद्रबाहु एक दिन उज्जयिनी पहुँचे और वहाँ एक उद्यान में ठहर गये। भद्रबाहु को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ उद्यान में एक कोटपाल लेटा हुआ है और आने-जाने वालो पर दृष्टि रख रहा है (42)। राजाज्ञा थी कि कोटपाल वहाँ से विचरने वाले गुप्तचरों से सावधान रहे (43)। कोटपाल ने भद्र-बाहु को गुप्तचर समझकर अपने नियन्त्रण में ले लिया (44)। भद्रबाहु उपसर्ग के कारण ध्यानस्थ हो गये। देवी पद्मावती के प्रभाव के कारण कोटपाल वहाँ से अदृश्य हो गया (45)। कोटपाल को इस प्रकार विलुप्त देखकर वहाँ आये हुए अनुचरों को आश्चर्य और आतंक हुआ। वे राजदरबार में पहुँचे (46)। सम्राट् चन्द्रगुप्त उस समय उज्जयिनी के महाराज थे। जिसने भी यह समाचार सुना वह विस्मय में पड़ गया (47)। इतने में उद्यान में अन्य राजसेवक भी आ पहुँचे और उन्होंने प्रहरियों से प्रार्थना की कि उनको तत्काल सम्राट् के समीप पहुँचा दिया जाए ताकि वे स्वयं भी आने के समाचार दे सकें (48)। उज्जयिनी समृद्ध नगरी थी। नागरिकों का जीवन बहुत सुखी और शान्त था। वहाँ का व्यापार और शिल्प उन्नति पर थे (49)। चन्द्रगुप्त सम्राज्ञी के साथ अपने राजपुरुषों और सेवकों के दल सहित आचार्य भद्रबाहु का स्वागत करने के लिए आगे बढ़े (50)। सब गुरुओं को प्रणाम किया। सेवक भी भक्तिपूर्वक विनम्र और आनन्दित हुए (51)।

भद्रबाहु ने सबको धर्मलाभ दिया (52)। सम्राट् चन्द्रगुप्त और महारानी ने मुनि-संघ से आहार ग्रहण करने के लिए निवेदन किया (53)। चन्द्रगुप्त ने राजपुरुषों को साथ ले मुनियों को आहार दिया (54)। इसी अवसर पर वहाँ एक अन्य मुनिसंघ आ पहुँचा और दोनो संघों का मिलन हुआ (55)। सेवकों सहित चन्द्रगुप्त और सम्राज्ञी ने आचार्य भद्रबाहु के चरणो की अर्चना की (56)। सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु की तपस्या और उनके ज्ञान से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भद्रबाहु को अपना गुरु मान लिया।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु आहार के लिए निकले और जब एक भवन के द्वार में प्रवेश किया तो उन्होंने एक शिशु को चिल्लाते हुए सुना—"जाओ, जाओ"। आचार्य भद्रबाहु ने निमित्त-ज्ञान से विचार किया कि बालक की बात का अर्थ है कि उन्हें यह क्षेत्र छोड देना चाहिए। उन्होंने सोचा जब यह बालक बोल ही रहा है तो उससे प्रश्न भी किया जा सकता है। प्रश्न का उत्तर मिला—बारह वर्ष, और आचार्य भद्रबाहु के निमित्त-ज्ञान मे अर्थ स्पष्ट हुआ कि बारह वर्ष का भीषण अकाल पडने वाला है। वे निराहार लौट गये।

निमित्त-ज्ञान के इस निष्कर्ष के साथ जुडी है एक अन्य घटना जिसने भद्रबाहु के इस निर्णय की सम्पुष्टि दी। यह घटना भी पाषाण-फलको मे चन्द्रगुप्त बसदि मे उत्कीर्ण है

एक रात चन्द्रगुप्त वात-पित्त-कफ आदि रोगो से रहित स्वस्थ अवस्था मे सोये हुए थे कि रात्रि के पिछले पहर मे उन्होने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नक्रम इस प्रकार है—

1. सूर्यास्त, 2 कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, 3 चन्द्रमा का उदय जिसमे छलनी की तरह छेद थे, 4 भयकर सर्प जिसके बारह फण थे, 5 देवताओ का विमान जो नीचे उतरकर वापस चला गया, 6 मलिन स्थान मे उत्पन्न कमल, 7 भूतप्रेतो का नृत्य, 8 जुगनुओ का प्रकाश, 9 जलरहित सरोवर किन्तु कही-कही थोडा-सा जल, 10 सोने की थाली मे खीर खाता हुआ कुत्ता, 11 ऊँचे हाथी पर बैठा बन्दर, 12 तट की मर्यादा भग करता समुद्र, 13 रथ को खीचते हुए बछडे, 14 ऊँट पर सवार राजपुत्र, 15 धूल से आच्छादित रत्नराशि और 16 काले हाथियो का युद्ध। (फलक 57)।

इन सोलह स्वप्नो के अभिप्राय के सम्बन्ध मे सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी महा-रानी से, ज्योतिषियो और मन्त्रियों से परामर्श किया (58)। अभिप्राय के सम्बन्ध में आश्वस्त होने के लिए वे आचार्य भद्रबाहु के पास गये (59)। स्वप्नो की बात सम्राट् के सेवको को मालूम हुई। वे सम्राट् के अश्व के पास बैठे उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे (60)।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जाकर आचार्य भद्रबाहु को प्रणाम किया। अपने स्वप्न
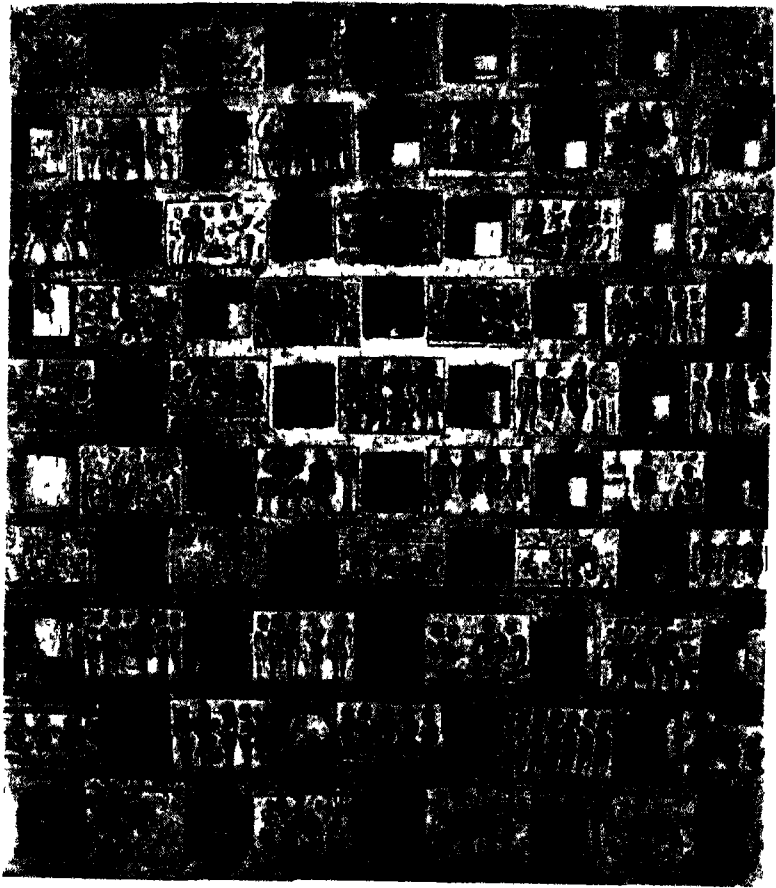
2. चन्द्रगुप्त बसदि मे, जालो पर, श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ सम्राट् चन्द्रगुप्त के दक्षिण की ओर विहार का अंकन
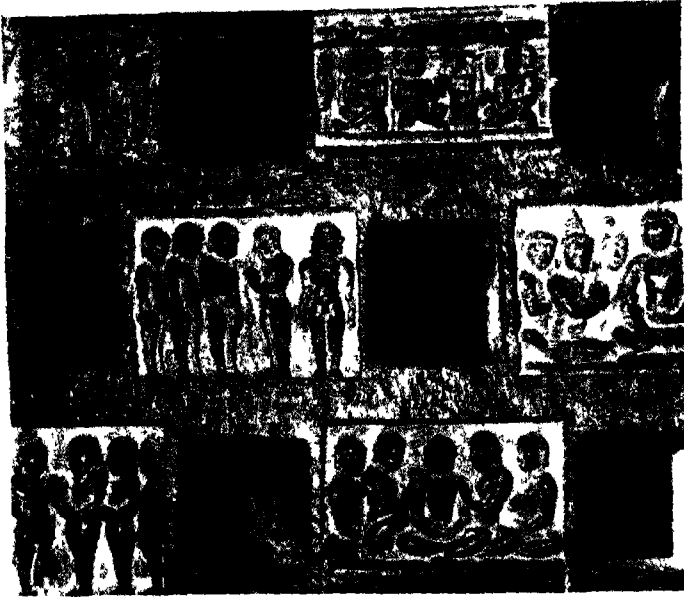
3 चन्द्रगुप्त बसदि मे, जाली पर, भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त के दक्षिण की ओर विहार का अंकन (परिवर्धित चित्र)

सुनाये और प्रार्थना की कि इन स्वप्नों का फल बताने की कृपा करें। आचार्य भद्रबाहु बोले—"ये स्वप्न अच्छे नहीं हैं। ये सूचित करते हैं कि भविष्य खोटा होगा। किन्तु इसी स्थिति का चिन्तन अच्छे पुरुषों में वैराग्य उत्पन्न करेगा। स्वप्नों का फल क्रम से इस प्रकार है :

1. डूबते हुए सूर्य का अर्थ है कि पंचम काल में श्रुतज्ञान अस्त होता चला जायेगा।
2. कल्पवृक्ष की शाखा टूटने का अर्थ है कि आगे से राजपुरुष संयम को ग्रहण नहीं करेंगे।
3. चन्द्र-मण्डल में अनेक छेदों का अर्थ यह है कि धर्म के शुद्ध मार्ग को दूसरे वादी-प्रतिवादी छिन्न-विच्छिन्न करने का प्रयत्न करेंगे।
4. बारह फण वाले सर्प का अर्थ है कि बारह वर्ष तक भयकर दुर्भिक्ष पड़ेगा।
5. वापस लौटते हुए विमान का अर्थ है कि पचम काल में देवता, विद्याधर और चारणमुनि पृथ्वी पर नही आयेंगे।
6. कमल दूषित स्थान में खिला है, इसका अर्थ है कि उत्तम कुल के लोग अधर्म को अपनायेंगे।
7. भूतों के नृत्य का अर्थ कि लोगो के मन पर भूत-प्रेतो की और अनिष्ट की छाया रहेगी।
8. जुगनुओ के चमकने का अर्थ है कि धर्म के प्रकाश से रहित व्यक्ति ही उपदेशक होगे।
9. सूखे किन्तु कहीं-कही जल सहित सरोवर का अर्थ है कि भगवान की वाणी का तीर्थ प्राय सूख जायेगा, फिर भी कहीं-कही धर्म का अस्तित्व दिखायी देगा।
10. सोने की थाली मे खीर खाते हुए कुत्ते का अर्थ है कि नीच वृत्ति के पुरुष लक्ष्मी का उपभोग करेंगे, मनस्वी पुरुषो को वह प्राप्त नही होगी।
11. ऊँचे हाथी पर बैठे हुए बन्दर का अर्थ है कि राजशासन ऐसे लोगो के हाथ मे आयेगा जो चचल-मति के होगे।
12. समुद्र मर्यादा उल्लघन कर रहा है, इसका अर्थ है कि शासक प्रजा की लक्ष्मी का हरण करेंगे और न्याय-मार्ग का उल्लघन करेंगे।
13. रथ को वहन करने वाले बछडो का अर्थ है कि यौवन की अवस्था मे लोग सयम ग्रहण करने की शक्ति रखेंगे, किन्तु वृद्धावस्था में यह शक्ति क्षीण हो जायेगी।
14. ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र का अर्थ है कि नृप-गण निर्मल धर्म छोडकर ऊट-पटाग हिंसा का मार्ग अपनायेंगे।
15. धूल से आच्छादित रत्नराशि का अर्थ है कि निर्ग्रन्थ साधु भी एक दूसरे की

निन्दा करने लगेंगे।

16 काले हाथियों का युद्ध यह व्यक्त करता है कि मेघ आशानुकूल वर्षा नहीं करेंगे।" (61)

स्वप्नों की यह अशुभ एव दु:खद भविष्य-वाणी सुनकर सम्राट् चन्द्रगुप्त अत्यन्त चिन्तित होते हुए, राजप्रासाद लौट आये (62)। चन्द्रगुप्त ने विरक्त होकर राजपाट त्यागने का निश्चय किया। इस समाचार से महारानी दुखी हुईं, राजपुरुष उदास हुए। सबने सम्राट् से प्रार्थना की कि वे राजपाट न छोड़ें किन्तु सम्राट् अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्होंने महारानी और सेवकों का समाधान करने का प्रयत्न किया (63)। अन्त मे चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से दीक्षा ले ली। कुछ महिलाओं ने भी दीक्षा ली और केशलोंच किया (64 65)। चन्द्रगुप्त ने मुनिसंघ मे सम्मिलित होकर (66) मुनियों के साथ वन-प्रान्तरों मे आत्म-ध्यान का अभ्यास किया (67)। मुनिसघ के शील स्वभाव से प्रभावित होकर वनदेवी सघ की सेवा मे उपस्थित हुई और उसने अपना प्रणाम निवेदन किया (68)। मुनि चन्द्रगुप्त का ध्यान-अभ्यास बढ़ता गया और वे आचार्य की उपस्थिति में कार्योत्सर्ग मुद्रा के अभ्यस्त हो गये (69)। सघ के अन्य मुनियों के साथ वे ध्यानमग्न रहते (70) और, सुदूर वन के एकान्त मे भी वे एकाकी ध्यानस्थ होते (79)। उनके आसपास वन-पशु निर्भय विचरण करते (72)। चन्द्रगुप्त मुनि जहाँ-जहाँ विहार करते, वनदेवता उनकी सेवा मे उपस्थित रहते (73)। चन्द्रगुप्त को आचार्य भद्रबाहु ने उस शिशु की कथा भी सुनायी, जिसने उनसे 'जाओ, जाओ' कहकर और बारह की सख्या का सकेत देकर बारह वर्ष के अकाल की चेतावनी दी थी। (74-75-76)।

आचार्य भद्रबाहु निर्णय कर चुके थे कि दुष्काल मे सघ की रक्षा के लिए, धर्म के प्रचार के लिए और चारित्र को अक्षुण्ण रखने के लिए दक्षिण जाना आवश्यक है। अन्त मे एक दिन प्रस्थान की घोषणा हो गयी (77)।

आचार्य भद्रबाहु का यह अभिप्राय जानकर अनेक राज-महिलाएँ (78) एव समृद्ध श्रेष्ठी एकत्रित हुए और उनसे निवेदन किया कि वे यह प्रदेश छोड़कर न जायें, यहीं ठहरें (79)। उत्तरापथ मे रह जाने वाले मुनियों ने भी ऐसी ही प्रार्थना की (81)। जब भद्रबाहु ने स्वीकृति नहीं दी तो भक्तों ने अन्य मुनियों से ठहरने का निवेदन किया। इस प्रकार की प्रार्थना करने वालों के अनेक नाम 'भद्रबाहु-चरित्र' मे आते हैं। जैसे—कुबेर, मित्र, जिनदास, माधवदत्त, बन्धुदत्त आदि। प्रत्येक ने कहा—'हमारे पास धन धान्य की कमी नहीं है। हम अपनी सम्पदा को धर्म के कार्यों मे लगाना चाहते हैं। आप यहीं निश्चिन्त होकर ठहरें। मुनिसघ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा' (81)।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा—

संघोऽयं सुरवृक्षाम समर्थः सर्वकर्मसु ।
तथापि मात्र योग्यास्था चारुचारित्रधारिणाम् ॥
पतिष्यति तरां रौद्रं दुर्भिक्षं दुःसहं नृणाम् ।
धान्यवद्दुर्लभो भावी संयम संयमार्थिणाम् ॥
त्यास्यन्ति योगिनो येऽत्र ते त्यक्ष्यन्ति संयमम् ।
ततोऽस्माद् विहरिष्यामोऽवश्यं कर्णाटनीवृतम् ॥

"यद्यपि कल्पवृक्ष के समान सब प्रकार के साधन आप लोगो के पास हैं और आप समर्थ हैं किन्तु चारित्र की रक्षा करने के लिए तत्पर साधुओ को यहाँ ठहरना उचित नही है। जिस प्रकार यहाँ धान्य दुर्लभ होने वाला है, उसी प्रकार संयम भी दुर्लभ हो जायेगा। यहाँ रहने वाले साधु सयम को त्याग देंगे। इसलिए हमारा निर्णय है कि हम यहाँ से कर्नाटक देश की ओर जायेंगे।"

आचार्य भद्रबाहु का यह निर्णय सुनकर श्रावको को अब कुछ कहने के लिए नही रह गया था। वे चिन्तामग्न हुए (82), फिर उनमे ऐसी चेतना आयी—

यद्देशे विचरन्ति चारुचरिता निर्ग्रन्थयोगीश्वरा ।
पद्मिन्योऽपि च राजहसविहगास्तत्रैव भाग्योदय ॥

—वास्तव मे भाग्यशाली है वह देश (कर्नाटक) जिसमे निर्मल-चारित्र-धारक निर्ग्रन्थ साधु विहार करते है, जहाँ के श्वेत सरोवरो मे कमलिनियाँ शोभित होती हैं, जहाँ राजहस विचरते हैं। अत निमित्त-ज्ञानियो ने जो कहा है वह ठीक ही है।

आहार के उपरान्त (83), मुनिसघ के विहार से पहले आचार्य भद्रबाहु ध्यानमग्न हुए (84)। सघ ने प्रस्थान किया (85), आचार्य ने पुन धर्मोपदेश दिया (86)। राजपुरुषो, श्रेष्ठियो, गण-नायको और जनसामान्य ने आचार्य भद्र-बाहु और मुनिसघ को श्रद्धापूर्ण विदाई दी तथा उनके धर्म-मंगल की कामना की (87-90)।

खण्ड : तीन

धर्मचक्र की धुरी पर
मूर्तिमती दिगम्बर-साधना की इतिहास-यात्रा

1

आचार्य भद्रबाहु का धर्मचक्र
और
दिगम्बरत्व की विराटता के बिम्ब बाहुबली

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म की श्रेष्ठ सास्कृतिक परम्पराओ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कृतसकल्प थे। उन्हे पता था कि मुनि-धर्म के अनुरूप सयम का आचरण वे साधु नही कर पायेंगे जो दुर्भिक्ष-ग्रस्त क्षेत्र मे रहेगे। आचार्य भद्रबाहु महामात्य चाणक्य की बुद्धि का चमत्कार, उनका नीति-कौशल और उनके द्वारा चन्द्रगुप्त के विशाल साम्राज्य की यशस्वी स्थापना देख चुके थे। उस राजनीति का सफल नायक सम्राट् चन्द्रगुप्त अब उनका साक्षात् शिष्य था। आचार्य को यह अवसर अनुकूल लगा कि मानव-कल्याणकारी जिनधर्म के अहिंसा और विश्वमैत्री के सिद्धान्तो के आधार पर धर्म-साम्राज्य विस्तृत हो। आचार्य भद्रबाहु ने सघ-सहित दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान करने का निर्णय ले लिया था।

आचार्य भद्रबाहु ने जब यह सकल्प किया तब कितनी अदम्य साहसिक दृढ़ता रही होगी उनके मन मे! साम्राज्य त्यागी सम्राट् चन्द्रगुप्त साथ थे, यह तथ्य अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि आचार्य भद्रबाहु के सघ मे बारह हजार साधु थे। कितना बडा सघ! कितनी लम्बी यात्रा कितने नगर, ग्राम, जनपद, पहाड और घने जगल! इतने बडे सघ के साधुओं के आहार-विहार की क्या व्यवस्था रही होगी, यह सोच पाना कठिन है। किन्तु जो आचार्य अपने शिष्यों को इसलिए दक्षिण की ओर ले चले कि उनका सयम और आचरण स्थिर रहे, उनका पूरा प्रयत्न यही रहा होगा कि यात्राकाल में सारे संघ का आचार-विचार शुद्ध रहे। कितने दिन संघ निराहार रहा होगा! कैसे धीरे-धीरे सघ की यात्रा आगे बढ़ी होगी! किन्तु, किसी भी भय की कल्पना करना शायद उचित नहीं है, क्योंकि धर्मप्रधान भारतवर्ष की जनता साधुत्व और त्याग को समझती आयी है, और इसीलिए त्यागी-विरागी साधुओं के प्रति उसके हृदय में सदा सहज विनम्रता जगती रही है। आचार्य भद्रबाहु के सचालन मे इतना बड़ा

संघ जहाँ-जहाँ पहुँचता होगा, किस प्रकार ये बारह हजार साधु पहाड़ों की घाटियों और जगलों के सुनसान प्रदेशो मे दिन-रात तपस्या मे लीन रहते होंगे। अञ्चल-वासी जनता के लिए यह अद्भुत चमत्कारी अनुभव रहा होगा। जिस धर्म में समवसरण और दिव्यध्वनि की सकल्पना है, उस धर्म की पताका के धारक आचार्य भद्रबाहु अच्छी तरह समझते थे कि जो बात मात्र वाणी के उपदेश से नहीं सध सकती, वह तपस्या और सयम के प्रत्यक्ष उदाहरण से कहीं अधिक गहराई के साथ जनमानस मे प्रविष्ट हो जाती है। सहस्रो दिगम्बर मुनि अलग-अलग या समूह रूप मे जब कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे होते होगे तो स्वभावत इन साधुओ की खड्गासन या पद्मासन मुद्रा को तीर्थंकर-धर्म से सदर्भित करके लोगों ने दिगम्बरत्व की कल्पना को प्रत्यक्ष आत्मसात् कर लिया होगा।

जैन सस्कृति की रूपरेखा प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने चित्रित की। उनके पुत्र भरत ने उसकी सवर्धना की, और बाहुबली ने तो जीवन की यथार्थता मे उस सस्कृति के अनेक आयाम खोल दिये। वह तमोगुण में व्याप्त अधकार से रजोगुण की ओर बढ़े और अन्त मे उन्होने निर्वाण की शुद्ध सात्त्विक स्थिति का साक्षात्कार किया।

भगवान आदिनाथ से भी पहले बाहुबली को मोक्ष प्राप्त हुआ, यह घटना बडी चमत्कारी और महत्त्वपूर्ण है। इस काल के वह पहले मोक्षगामी जीव हैं और पहले कामदेव हैं। स्वय भरत ने पोदनपुर मे तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति न बनवा-कर बाहुबली की अत्यन्त ऊँची, 527 धनुष प्रमाण पन्ने की मूर्ति बनवाई।

- विशालता का ध्यान करते हैं तो लगता है कि बाहुबली ही ऐसे महिमामय महापुरुष हैं, जिनकी मूर्ति सार्थक रूप मे बडी-मे-बडी बनाई जा सकती है।
- वे अपराजेय हैं। उनकी कथा मे युद्ध की चुनौती है। सेनापतियो और योद्धाओ के लिए वे प्रमाण-पुरुष है।
- उन्होने जीवन मे जो देखा, सहा और भोगा उसमे क्रोध, मान, माया और लोभ, चारो कषायो की तीव्रतम अभिव्यक्ति है

भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने भाई बाहुबली के शिरच्छेद के लिए चलाया गया चक्र माया और छल का चरम उदाहरण है क्योंकि तीन प्रकार के युद्धों की निश्चित प्रक्रिया के विरुद्ध उन्होंने यह हेय कार्य किया। चक्रवर्ती का लोभ ऐसा कि शेष सम्पूर्ण ससार को जीतकर भी राज्य-विस्तार की लालसा मे अपने छोटे भाई को अति-सीमित भूमि को भी वह छोड़ नही सका। मान और अहकार का प्रत्यक्ष दर्शन तो बाहुबली ने अपने ही जीवन में किया। स्वय गुरु से दीक्षा नहीं ली, भरत की पृथ्वी पर सचरण न करना पड़े इसलिए एक वर्ष तक एक ही स्थान पर मात्र दो तलवो पर खडे हुए उन्हें कठिन कायोत्सर्ग तपस्या में भी अहकार का शल्य चुभता रहा।

- बाहुबली जनता के मन में शौर्य और तपस्या की संतुलित मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं।
- राजाओं के लिए वे धीर-गम्भीर-वीरत्व के आदर्श हैं।
- साधुओं के लिए उनकी अदम्य कायोत्सर्ग मुद्रा अनुकरणीय है।
- शिल्पियों के लिए उनकी विशालता, उनका औदार्य और उनकी आध्यात्मिक दिव्यता हृदय में उतारने की वस्तु है। कोमल माधवी लताओं या पिप्पली-लतिकाओं द्वारा शरीर का आच्छादन, कुक्कुट सर्पों की बाँबियाँ और वन के समस्त प्राणियों का आसपास निर्भय सचरण—सब कुछ, जो कला के लिए वांछनीय है, बाहुबली-मूर्ति की कल्पना में समाहित है।
- साहित्यकारों के लिए इससे अधिक मनोरम कथानक, इससे बड़ा रोमांच, नाटकीय तत्वों का इतना गहन समावेश, भावनाओं का घात-प्रतिघात और रसों का परिपाक अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?
- बाहुबली ससार के उन आदिपुरुषों मे हैं जिन्होंने आत्मगौरव के लिए, अपनी भूमि की स्वतन्त्रता के लिए, सग्राम किया और युग-युगान्तर के लिए स्वाधीनता के महत्त्व को स्थापित किया।
- बाहुबली प्रतीक हैं आध्यात्मिकता के उन बहुरगी रूपों के, जो स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म की ओर, गोचर से अगोचर की ओर, और इन्द्रियों के सयम से इन्द्रियातीत आत्मा के दर्शन की ओर अग्रसर होते हैं।

दिगम्बरत्व की इतनी बड़ी साहसिक कल्पना इन्हीं भगवान बाहुबली के चरित्र के माध्यम से जन-जन मे प्रतिष्ठित हो पाई। और, बाहुबली की ऐसी विशाल दिगम्बर मूर्ति का निर्माण करना दसवीं शताब्दी के प्रतापी महापुरुष सेनापति और अमात्य चामुण्डराय के लिए सम्भव हुआ, जिसे जैन तथा जैनेतर जनता में, जन-जन मे आदर-सम्मान प्राप्त था।

2

श्रवणबेल्गोल मे बाहुबली की मूर्ति-प्रतिष्ठापना

चामुण्डराय का आध्यात्मिक रोमाच

सम्राट् भरत से लेकर सम्राट् चन्द्रगुप्त तक के प्राचीन इतिहास को भगवान आदिनाथ के धर्मचक्र की जो जय-यात्रा निरन्तरता प्रदान करती है, उसके गमन-चिह्नो की लीक श्रवणबेल्गोल की चन्द्रगिरि पहाडी के शिखर तक पहुँची। वहाँ चन्द्रगिरि के सामने ही है विन्ध्यगिरि। लगभग तेरह शताब्दियो बाद कर्णाटक के परम तेजस्वी राज-पुरुष महामात्य चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि को विश्व का धर्मतीर्थ बना दिया—भगवान बाहुबली की विशाल और अनुपम मूर्ति की प्रतिष्ठापना द्वारा।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' की मन्दप्रबोधिनी टीका की उत्थानिका मे उल्लेख है और इतिहास साक्षी है कि चामुण्डराय ने अपनी वीरता और प्रतिपक्षी नरेशो से सफलता पूर्वक लोहा लेने के कारण अनेक उपाधियाँ प्राप्त की। उनमे से तीन का उल्लेख दुर्गों पर चढाई करके शत्रु को समूल उखाड फेंकने के यश से सम्बन्धित है 'रणरङ्गसिंह', 'वीर-कुल-काल-दण्ड' तथा 'भुज-विक्रम'।

युद्ध के मैदान मे रणकौशल दिखाकर नोलम्ब नरेश को पराजित करके 'वीर-मार्तण्ड' की उपाधि प्राप्त की।

पराक्रमी शत्रु बज्जल को खेडक-युद्ध मे हराकर 'समर-धुरन्धर' की पदवी अर्जित की। इसी प्रकार 'समर-परशुराम', प्रतिपक्ष-राक्षस', 'भटमारि', असहाय-पराक्रम', आदि अनेक उपाधियो की पृष्ठभूमि मे चामुण्डराय के पराक्रम, शौर्य, रणनीति और मित्र-नरेशो की तत्पर सहायता की कथा गुम्फित है। महाबलय्य का यह पुत्र अपने वश की परम्परा की कीर्ति को चार चाँद लगा गया।

नोलबो, चालुक्यो और बज्जलो की लोभ-लालसा की दृष्टि जैन धर्मावलम्बी गग-नरेशो के राज्य पर सदा लगी रहती थी। यह चामुण्डराय के शौर्य और रण-कौशल का प्रताप था कि विरोधियो को बारबार पराजय सहनी पडी।

चामुण्डराय ने धर्म-पताका को सदा ऊँचा रखा।

चामुण्डराय ने अपनी भक्ति, धर्मभावना, सत्यनिष्ठा, जैनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धान और जिनशासन-प्रभावना के कारण जो उपाधियाँ प्राप्त की, वे हैं · सम्यक्त्वरत्नाकर, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण, देवराज।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र परम तपस्वी और अगाध ज्ञानी थे। उनकी कृपा से ही चामुण्डराय को गुल्लिकायज्जी के दर्शन हुए। गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का अभिषेक सम्पन्न हुआ और चामुण्डराय अहंकार के कषाय-भाव से बच गये। यह कथा आगे दी है।

उत्कट शौर्य के साथ मृदुता और निरभिमानता के समागम का पाठ गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने चामुण्डराय को शास्त्रज्ञान के साथ-साथ पढ़ाया।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती एक दिन जब कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थ धवला का अध्ययन कर रहे थे तो चामुण्डराय गुरु के दर्शनो को उनके पास पहुँचे। गुरु ने चामुण्डराय को देखते ही उस ग्रन्थ को बन्द करके एक ओर रख दिया। चामुण्डराय को शास्त्रज्ञान मे गहरी रुचि थी। उन्होने गुरु से पूछा—

"मुनिवर! आप किस शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे? आपने उसे उठाकर रख दिया। कृपा करके मुझे बतायें इसका विषय क्या है।"

गुरु ने कहा, "चामुण्डराय, यह इतना कठिन विषय है, इसका इतना विस्तार है कि तुम्हारी समझ मे नही आयेगा। अभी तुम इस ज्ञान के अधिकारी नही हुए।"

चामुण्डराय ने गुरु से प्रार्थना की कि सिद्धान्त के गहन विषयो की उसे शिक्षा दें। उसके लिए सिद्धान्त-विषयो का सार इस प्रकार लिख दें कि विषय सक्षेप मे समझ मे आ जाये। गुरु ने चामुण्डराय के लिए 'पंचसंग्रह' नाम का ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे रच दिया। वह षट्खण्डागम के छह खण्डो का सग्रह है, उनका सार दिया गया है। गुरु की अपने इस शिष्य गोम्मट पर इतनी कृपा थी कि उक्त ग्रन्थ का नाम ही उन्होने 'गोम्मटसार' रख दिया। ग्रन्थ की अनेक गाथाओ मे गोम्मट शब्द का प्रयोग किया, जहाँ उसके अर्थ का सकेत गोम्मटराय अर्थात् चामुण्डराय की ओर है—

> गोम्मटसंगहसुत्तं, गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
> गोम्मटरायविणिम्मिय, दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ॥
>
> कर्मकाण्ड, 968

चामुण्डराय स्वय शास्त्रज्ञानी हो गये, उनके अपने रचे ग्रन्थो के नाम भी प्रचलित हैं .

(1) वीरमार्तण्डी—गोम्मटसार की कन्नड मे टीका जो अभी तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार की एक टीका केशव वर्णी द्वारा भी रची गई है।

(2) चारित्रसार।
(3) त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित (63 महापुरुषों की जीवन-गाथा जिसमें 24 तीर्थंकर भी सम्मिलित हैं।) कन्नड गद्य का यह प्राचीन नमूना है। कन्नड भाषा को आधुनिक आधार देने वाले साहित्यकार चामुण्डराय हैं।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति-निर्माण की कथा

भगवान बाहुबली की मूर्ति के निर्माण की कथा अत्यन्त चमत्कारी है। कहते हैं कि चामुण्डराय की माता कालला देवी ने मुनियों से सुन रखा था कि उत्तर भारत मे तक्षशिला के समीप पोदनपुर में भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति है, जिसके पवित्र दर्शन आत्मा को परम शान्ति देते हैं। किन्तु उस मूर्ति के दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं। न मालूम माता के हृदय में क्या भावना हुई कि उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह पोदनपुर की उस मूर्ति का दर्शन अवश्य करेंगी। उन्होंने अपने पुत्र चामुण्डराय और पुत्रवधू अजिता देवी के समक्ष यह भावना प्रकट की। आज्ञाकारी पुत्र ने तत्काल निर्णय किया कि वह जल्दी ही प्रबन्ध करेंगे कि माता को पोदनपुर ले जायें और भगवान बाहुबली की उस अद्भुत विशाल प्रतिमा का दर्शन करायें, स्वयं भी कृतकृत्य हो। तत्काल ही यात्रा का प्रबन्ध करना इसलिए और भी आवश्यक हो गया कि माता की प्रतिज्ञा थी कि जब तक वे उस मूर्ति के दर्शन नहीं करेंगी तब तक दूध का आहार ग्रहण नहीं करेंगी।

भक्ति-भाव से गद्गद माता, पुत्र और पुत्रवधू भगवान बाहुबली की यात्रा के लिए निकल पड़े। साथ मे गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। अपनी राजधानी तलक्काड से चलकर कई दिन की यात्रा के उपरान्त श्रवणबेलगोल के स्थान पर पहुँचे और वहाँ विश्राम किया। वहीं एकाएक रात को चामुण्डराय को स्वप्न हुआ। स्वप्न में कूष्माण्डिनी देवी ने, जो बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन-देवी हैं, दर्शन दिया और कहा—

"व्यर्थ होगी तुम्हारी पोदनपुर की यात्रा, वत्स! क्योंकि वहाँ बाहुबली-मूर्ति के दर्शन नहीं हो सकेंगे। उसे तो कुक्कुट सर्पों ने पूरी तरह से आच्छादित कर रखा है।"

स्वप्न मे ही चामुण्डराय अधीर हो गये। देवी ने उन्हें आश्वासन दिया और कहा—

"तुम्हारी मातृ-भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें और तुम्हारी माता को यहीं बाहुबली की विशाल मूर्ति के दर्शन करवा दूँगी। ध्यानपूर्वक विधि सुनो। प्रात. सूर्योदय होते ही स्नान-ध्यान करके तुम यहाँ जिस पहाड़ी के तल में विश्राम कर रहे हो, उसके शिखर पर चढ़ो और वहाँ से सामने की बड़ी पहाड़ी के शिखर पर

4 कूष्माण्डिनी देवी (चन्द्रगिरि पर)
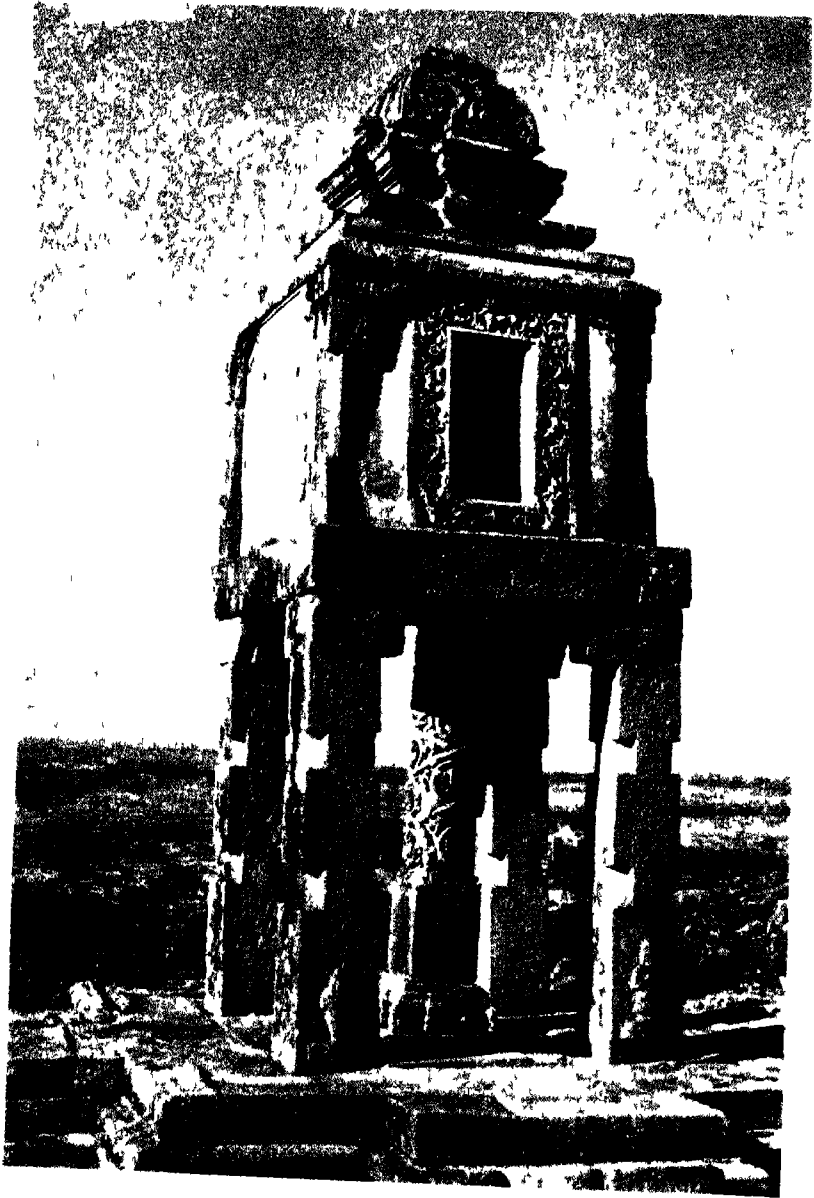
5 त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ (बाद मे स्थित)

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]

अभिमन्त्रण से सोने का एक तीर छोडो और देखो कि क्या होता है।"

अन्तर की निर्मल भावनाओं का यह सुयोग और यह प्रताप कि यही स्वप्न चामुण्डराय की माता को भी हुआ और उनके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को भी।

अगले दिन प्रातःकाल चामुण्डराय ने जब विधिवत् विनम्र भाव से तीर छोड़ा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि सामनेवाली पहाड़ी की चट्टान की परतें गिरने लगीं और भगवान बाहुबली की मूर्ति का मस्तक-भाग स्वतः स्पष्ट होने लगा। अब प्रश्न उठा कि पर्वत-पाषाण की परतों को हटाकर मूर्ति को आकार देने वाला शिल्पी कौन हो ?

शिल्पी की खोज त्यागद ब्रह्मदेव

कहा जाता है कि चामुण्डराय ने राज्य के प्रधान शिल्पी अरिष्टनेमि को बुलाकर अपना अभिप्राय बताया कि भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा का निर्माण कराना है जिसके लिए सहायक कुशल शिल्पियों की खोज आवश्यक होगी। मूर्ति की विशालता की कल्पना देने के लिए चामुण्डराय ने शिल्पी को अपनी माता के मन में उत्पन्न बाहुबली-दर्शन की उत्कट अभिलाषा का प्रसंग बतलाया और कहा कि उत्तर भारत मे तक्षशिला के निकट प्राचीन पोदनपुर नगर मे महाराज भरत ने जो पन्ने की प्रतिमा निर्मित करायी थी, वैसी विशाल मूर्ति यहाँ विन्ध्यगिरि पर निर्माण करनी है।

चामुण्डराय ने शिल्पी को वह पाषाण-शिखर भी दिखलाया जहाँ स्वप्न-निर्दिष्ट विधि से छोडा गया तीर पहुँचा था। शिल्पी ने विन्ध्यगिरि के उस शिखर को आँखो-ही-आँखो मे नाप लिया और मूर्ति की विशालता का अनुमान मन में बैठा लिया।

'इतनी विशाल मूर्ति के निर्माण में तो बहुत समय लग जायेगा", शिल्पी ने मन-ही-मन सोचा। "और, इतने महान् उपक्रम का पारिश्रमिक चामुण्डराय क्या देंगे ?" यह प्रश्न भी उसके अन्तस् मे बार-बार उठ रहा था।

"क्या सोच रहे हो, अरिष्टनेमि," चामुण्डराय ने अधीर होकर पूछा। "क्या यह निर्माण तुमसे हो नही पायेगा ? या सोचते हो कि इसका पारिश्रमिक क्या होगा ?"

"हो क्यो नहीं पायेगा, स्वामी ! किन्तु सचमुच, पारिश्रमिक की राशि बता पाना इतना कठिन लगता है कि मन में दुविधा उत्पन्न होती है," शिल्पी ने अपनी कठिनाई स्पष्ट कर दी।

"दुविधा छोडो, शिल्पी ! कहो क्या चाहते हो ?"

शिल्पी ने निःशंक होकर कहा—"इस शिला में से मूर्ति का स्थूल आकार छाँट लूँगा। फिर मूर्ति के निर्माण मे जितना पाषाण छँटता जायेगा, जितने पाषाण-

खण्ड गिरते जायेंगे, और मूर्ति की भव्यता को उकेरने मे छैनियो से जो शिला-कण और चूर्ण बिखरते जायेंगे, उन सबको इकट्ठे करते जाना होगा और जिस मात्रा मे पाषाण खण्ड और क्षरण इकट्ठा हो जायें, उतनी तौल का स्वर्ण मुझे प्राप्त हो।"

चामुण्डराय आश्वत हुए। प्रसन्न मन बोले —"स्वीकार है।"

बात पक्की हो गई और प्रधान-शिल्पी ने अपने अधीन अनेक शिल्पियो तथा श्रमिको को काम पर लगा दिया। चामुण्डराय पहाडी की ऊपरी ढलान पर प्रति-दिन एक निश्चित स्थान पर आकर बैठते और शिला से काटे-छाँटे गए पाषाण-खण्डो की तौल करवाकर लिखवाते जाते। धीरे-धीरे इतना ढेर इकट्ठा हो गया कि चामुण्डराय को शिल्पी से कहना पडा कि अभी जितना ढेर इकट्ठा हो गया है, उतने का स्वर्ण वह ले जाये। आगे भी जैसे-जैसे काम बढ़ता जाये वह हाथ-के-हाथ अपना पारिश्रमिक लेता रहे।

पहली पारी के सोने का ढेर लदवा कर शिल्पी अपने गाँव आया और जैसे ही दोनो हाथो मे उठाये पहले ढेर को अपनी माँ के आगे रखने लगा, कि उसके हाथ जड हो गये, जकड गये, और सोने के ढेर से अलग न हो पाये। शिल्पी पर आतक छा गया, वह पीडा से कराहने लगा। माँ आचार्य महाराज के पास दौडी गई, दर्शन किये, समाधान माँगा, और घर वापिस आकर बेटे से कहा —"बेटा, यह सोना तुम्हारे हाथो से नही चिपका है, यह भार तुम्हारे मन और हृदय पर जड हो गया है। तू देखता नही कि एक बेटा अपनी माँ की भक्ति-भावना से हर्षित होकर परम पूज्य भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति बनवा रहा है, सोने-चाँदी के सग्रह की भावना से अपने मन को मुक्त कर रहा है, और एक तू है कि लोभ-भरे मन से अपनी माँ को भगवान की मूर्ति बनाने की मजदूरी सोने के रूप मे दे रहा है। तेरा मन पडा हुआ है आगे आने वाले सोने के ढेरो मे। बेटा! तू ही बता, तेरा उद्धार कैसे होगा ?"

माँ की वाणी की पवित्र भाव-धारा ने शिल्पी के मन को एक क्षण मे झक-झोर कर निर्मल कर दिया। उसके अश्रु बहने लगे। दोनो हाथ सोने से मुक्त हो गये और हृदय लोभ से मुक्त हुआ। चामुण्डराय तो सोना देते ही रहे, किन्तु शिल्पी अब पत्थर नही तराश रहा था, भगवान बाहुबली की मूर्ति रच रहा था। यही क्षण था जब उसे गोम्मटेश्वर के मुख, होठ, नेत्र और उनकी उस दिव्य मुस्कान को रूप देना था जो करुणा, आशीष और कल्याण की निर्झरिणी है। पवित्र मन ने उसके शिल्प को दिव्य आभा से मण्डित कर दिया। हृदय मे बसी भक्ति ने पाषाण पर चलने वाली हथौडी और छैनी के उकेरो को कमल-दल की कोमलता से सुरभित कर दिया।

धन्य हो गया शिल्पी, धन्य हो गये चामुण्डराय, और युग-युग के लिए कृतार्थ हो गया भारत का शिल्प-वैभव जो दर्शनार्थियो को अमरत्व का बोध देता आ

रहा है।

जिस स्थान पर बैठकर चामुण्डराय शिल्पियों को पारिश्रमिक और अभाव-ग्रस्त व्यक्तियों को दान दिया करते थे, जिस स्थान पर जैन धर्म की उदार संस्कृति ने कर्नाटक की जनता मे प्रचलित ब्रह्मदेव की उपासना को अपनत्व ही नही दिया, उसे जिन-शासन की रक्षा के दायित्व का देवता बनाकर स्तम्भ-शीर्ष पर आसन भी दिया, वह स्थान आज 'त्यागद ब्रह्मदेव' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ स्वयं चामुण्डराय ने ब्रह्म-स्तम्भ का निर्माण करा दिया था। इस स्तम्भ को आचार्य भद्रबाहु द्वारा दक्षिण प्रान्त में लायी गयी सार्वभौम जैन संस्कृति की सामर्थ्य प्राप्त हुई। यही कारण है कि यह स्तम्भ अलौकिक चमत्कार का साक्षी हो गया। यह अधर मे स्थित है। एक समय था जब तीर्थयात्री स्तम्भ के नीचे से आर-पार रूमाल निकालकर चमत्कार का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे। आज भी इस स्तम्भ के तीन कोने प्राय अधर मे स्थित हैं।

जैन आचार्यों की इस दूरदर्शिता के लिए, उनकी समन्वय भावना के लिए हमे कृतज्ञ होना चाहिए कि अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त के बल पर उन्होने जैन स्थापत्य मे ब्रह्मदेव को समाविष्ट कर लिया। कर्नाटक मे प्राय प्रत्येक बडी जिन बसदि, प्रत्येक बडे मन्दिर, के सामने मानस्तम्भ है, मानस्तम्भ पर ब्रह्मदेव की मूर्ति निर्मित है। ब्रह्मदेव घोडे पर विराजमान हैं। उनके दायें हाथ मे फल है जो उनकी कृपा-भावना का प्रतीक है। उनके बायें हाथ मे चाबुक है जो धर्म से विमुख होने वालो के लिए दण्ड विधान का प्रतीक है। उनके पाँव मे खडाऊँ हैं जिसका अभिप्राय है कि मन्दिर की पवित्रता का वह आदर करते हैं। कर्नाटक की जनता जब अपने इस देवता को मानस्तम्भो पर देखती है—एक-से-एक बडे और ऊँचे मानस्तम्भो पर, जिन्हे जैन राजपुरुषो, सेट्टियो (श्रेष्ठियो) और धनवानों ने स्थान-स्थान पर बनवाया है—तब वह जैन मन्दिरो को अपना समझती है और सोचती है कि जिस तीर्थंकर-धर्म की रक्षा ब्रह्मदेवता घोडे पर चढकर स्वय करते हैं, जो अत्याचारियो को दण्ड देने के लिए चाबुक हाथ मे लिये हुए हैं, उन धर्म-स्थानो को सुरक्षित रखना, उन्हे सकट से बचाना प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है।

यही कारण है कि कर्नाटक के जैन मन्दिरों को समय की लीला ने कितनी ही क्षति पहुँचायी हो, धार्मिक सहिष्णुता ने उन्हे सुरक्षित रखा।

त्यागद ब्रह्मदेव विन्ध्यगिरि के शिखर पर निर्मित गोम्मटेश्वर की मूर्ति का मुखमण्डल आज एक हजार साल से निहार रहे हैं। कैसी अनुपम है वह मूर्ति!

भगवान बाहुबली के दर्शन साक्षात्कार का पुलक

प्रकृति की भरपूर गरिमा और क्षेत्रीय सुषमा के लावण्य से मनोरम श्रवण बेलगोल का परिवेश इतना मोहक है कि यात्री मन्त्रमुग्ध सा बढे चला आता है।

नीलगिरि के वृक्षों की झूमती कतारें, हरे-भरे खेत, श्यामल-श्वेत मेघ, घने जंगल, नारियल और सुपारी के पेड़, लौंग और चन्दन की सुरभि से महकते वन-प्रान्तर अन्यत्र कहाँ हैं ?

श्रवणबेल्गोल की इस विन्ध्यगिरि पहाड़ी का स्थानीय नाम दोड्डबेट्टा है जिसका अर्थ होता है बड़ी पहाड़ी। यह समुद्रतल से 3347 फुट ऊपर है और नीचे के मैदान से 470 फुट ऊँची है। शिखर पर पहुँचने के लिए लगभग 6ʽ0 सीढ़ियाँ हैं। ऊपर समतल चौक घेरे से घिरा है। घेरे के बीच में छोटे-छोटे तलघर हैं जिनमें अनेक जिन प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। घेरे के चारों ओर कुछ दूरी पर भारी दीवार है जिसमें कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाएँ भी उसका भाग बन गई हैं।

चौक के ठीक बीचों-बीच उत्तरमुख स्थित है भगवान बाहुबली की विश्व-वन्द्य विशाल मूर्ति—दिगम्बर, निर्विकार, कायोत्सर्ग मुद्रा में। श्रवणबेल्गोल की ओर बढ़ते हुए 15 मील की दूरी से ही यह मूर्ति दिखाई देने लगती है और जल्दी से जल्दी पहुँच जाने की भावना हृदय को आनन्द-विभोर किये रहती है। मूर्ति की विशालता का अंकन पुराने ग्रन्थों में हाथ और अंगुलियों के माप से दिया हुआ है।

पूरे पर्वत-खण्ड में से इतनी विशाल मूर्ति का आकार कल्पना में उतारने और भारी हथौड़ी तथा छेनियों की नाजुक तराश से मूर्ति का अंग-अंग उकेरने का काम जितनी एकाग्रता और संयम-साधना से हुआ होगा, इसकी कल्पना करने पर रोमांच हो उठता है। नुकीली और संवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोडी, सुपुष्ट कपोल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए घुंघराले केश आदि, इन सभी से दिव्य आभा वाले मुख मण्डल का निर्माण हुआ है। बलिष्ठ विस्तृत पृष्ठभाग का कलात्मक निर्माण, आठ मीटर चौड़े बलशाली कन्धे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है और अत्यधिक गोल है, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को संतुलन प्रदान कर रहे हों। भीतर की ओर उकेरी गई नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में मूर्ति-कला की उन अप्रतिम परम्पराओं की ओर संकेत करते हैं जिनका शारीरिक प्रस्तुति से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि तीर्थंकर या साधु का अलौकिक व्यक्तित्व केवल भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं, उसका निजत्व तो आध्यात्मिक तल्लीनता के आनन्द में है। त्याग की परिपूर्णता निरावरण नग्नता में है। सुदृढ़ निश्चय, कठोर साधना और आत्म नियन्त्रण की परिचायक है खड्गासन-मुद्रा।

इस दिगम्बर मूर्ति की नग्नता के सम्बन्ध में गांधीयुग के चिन्तक और साहित्य-सर्जक काका कालेलकर के मार्मिक उद्गार हैं :

"सांसारिक शिष्टाचार में फंसे हुए हम उस मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह मूर्ति नग्न है। लेकिन क्या नग्नता वास्तव में हेय है ? अत्यन्त
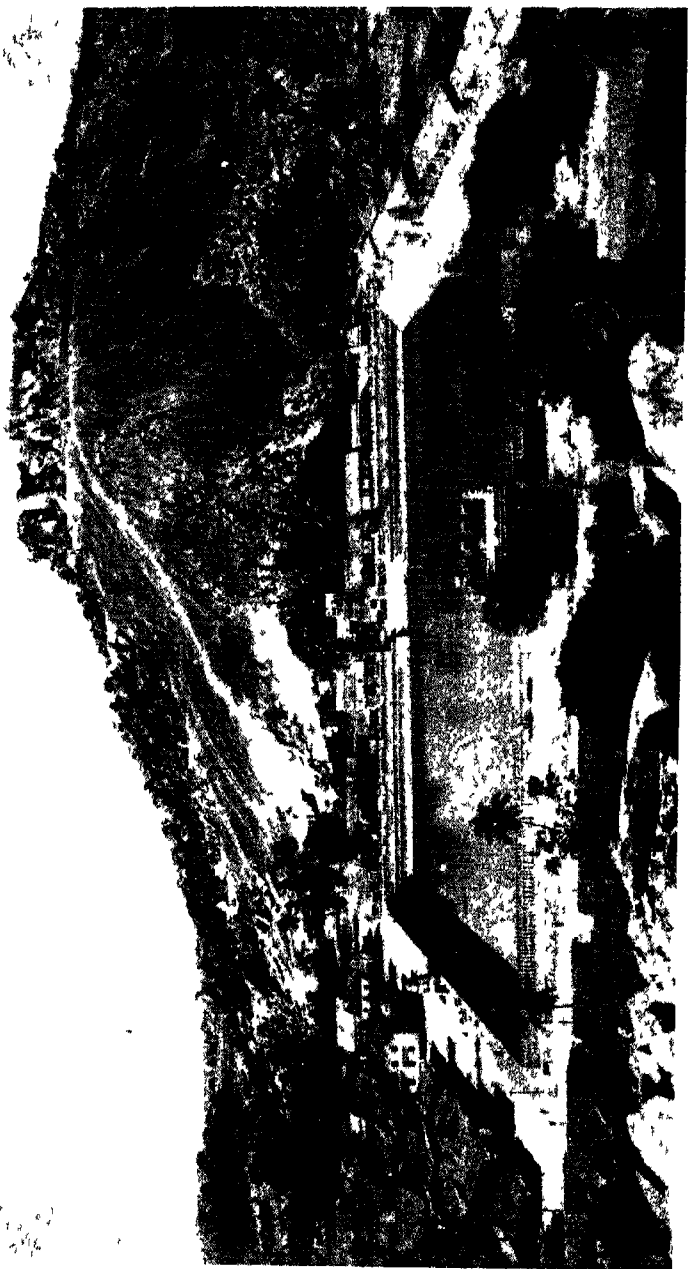
6 विन्ध्यगिरि और कल्याणी सरोवर का विहगम दृश्य

[भा० पु० स०, मैसूर]
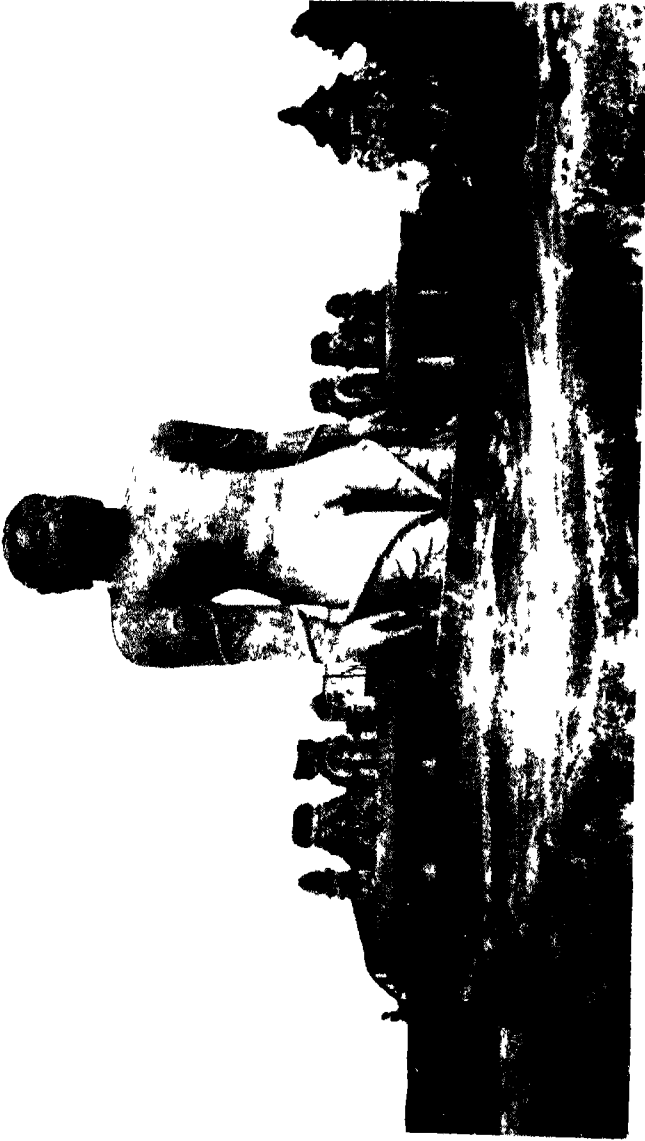
7 गोम्मटेश्वर बाहुबली
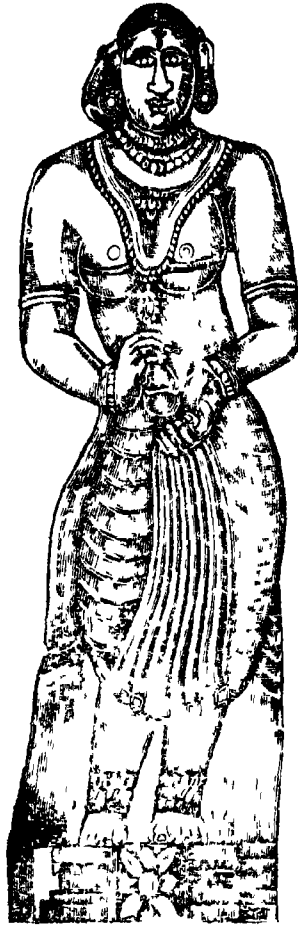
8. गुल्लिकायजी, एक रेखांकन

9 चंवरधारी यक्ष (बाहुबली-मूर्ति के पाद-पार्श्व में)

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]

अशोभन है ? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती । फूल नंगे रहते हैं; पशु-पक्षी भी नंगे ही रहते हैं; प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है वे शिशु भी नंगे रहते हैं । उनको अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती । उनकी ऐसी स्वाभाविकता के कारण ही हमें भी उनमें लज्जा जैसी कोई चीज नहीं दिखाई देती । लज्जा की बात जाने दीजिए । इस मूर्ति में कुछ भी अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, अशोभन और अनुचित लगता है—ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं । इसका कारण क्या है ? यही कि नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है । मनुष्य ने विकारों को आत्मसात् करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया है कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती । दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है । बीमार मनुष्य के आगे पके फल, पौष्टिक मेवे या सात्विक आहार स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं रखा जा सकता । यह दोष खाद्य पदार्थ का नहीं, बीमार की बीमारी का है । यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि मनुष्य के मानसिक रोग के कारण । नग्नता छिपाने में नग्नता की लज्जा नहीं है । वरन् उसके मूल मे विकारी मनुष्य के प्रति दयाभाव है, उसके प्रति संरक्षण-वृत्ति है । ऐसा करने में जहाँ ऐसी श्रेष्ठ भावना नहीं होती, वहाँ कोरा दम्भ है ।

परन्तु जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त और पवित्र हो जाता है, वैसे ही पुण्यात्माओं तथा वीतरागो के सम्मुख भी मनुष्य, शान्त और गम्भीर हो जाता है । जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ ही मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है । यदि मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असंभव न होता । लेकिन तब तो बाहु-बली भी स्वयं अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते । जब बालक सामने आकर नंगे खड़े हो जाते हैं, तब वे कात्यायनी व्रत करती मूर्तियों की तरह अपनी नग्नता छिपाने का प्रयत्न नहीं करते । उनकी निरावरणता ही जब उन्हें पवित्र करती है, तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का ?"

ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर झलकते स्मित के अंकन में मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल की चरम श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं । सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त, हाथों, उंगलियों, नखों, पैरो तथा एड़ियो का अंकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है । सम्पूर्ण प्रतिमा को वास्तव में पहाड़ी की ऊँचाई और उसके आकार-प्रकार से संतुलित किया है । परम्परागत मान्यता के अनुसार, पर्वत की जिस चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर विद्यमान है, और आज भी इस विशाल प्रतिमा के पैरों और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊँची होती ।

शिलाखण्डो में चींटियों आदि की बाँबियाँ अंकित की गयी हैं और कुछेक में से सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर से निकलती हुई माधवी लताओं को पाँव और जाँघों से लिपटती और कन्धों तक बढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अन्त पुष्पों या बेरियों के बौर-गुच्छों के रूप में होता है। गोम्मटेश्वर के चरण जिस पादपीठ पर हैं वह पूर्ण विकसित कमल-रूप में है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में गोम्मटेश्वर की इस विशाल वक्षयुक्त भव्य प्रतिमा के दोनो हाथ घुटनो तक लटके हुए हैं। दोनों हाथो के अंगूठे भीतर की ओर मुड़े हुए हैं मानो सब कुछ अन्तर्निष्ठ है, सब कुछ सहज-स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त है।

विस्मयकारी है समूचे शरीर पर दर्पण की भाँति चमकती पॉलिश, जिससे भूरे-श्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने आलोकित हो उठे हैं। ऊँचे पहाड़ी शिखर पर खुले आकाश मे स्थित प्रतिमा को धूप, ताप, शीत, वर्षा, धूल, और आँधी के थपेड़ों से बचाने मे इस पॉलिश ने रक्षा-कवच का कार्य किया है। यह ऐसा तथ्य है जिसे इस प्रतिमा के निर्माताओं ने भलीभाँति समझ लिया था। ऐलोरा और अन्य स्थानो की गोम्मट-प्रतिमाओ से भिन्न, इस मूर्ति की देह के चारो ओर सर्पिल लताएँ बड़े ही सधे कौशल के साथ अंकित की गयी हैं। उनके पल्लव एक-दूसरे से उचित आनुपातिक दूरी पर इस प्रकार अंकित किये गये हैं कि उनसे प्रतिमा की भव्यता कम न हो।

किन्तु शिल्पी का मानव-प्रयत्न कभी भी परिपूर्ण नही हो सका, अत अहकार के उच्छेद के लिए कलाकार ने मूर्ति की एक अगुली को उसके अनुपात से छोटा बनाकर जानबूझकर ही अपनी लघुता का परिचय दिया है।

गोम्मटेश्वर-द्वार की बाईं ओर एक पाषाण पर शक सवत् 1102 का शिलालेख है जिसमे कन्नड कवि बोप्पण पण्डित ने मूर्ति की कला पर मुग्ध होकर कहा है .

अतितुंगाकृतियादोडागदवरोल्सौन्दर्यमौन्नत्यमु
नुतसौन्दर्यमुमागे मत्तितिशयतामागदौन्नत्यमु ।
नुतसौन्दर्यमुमूर्जितातिशयमु तन्नल्लि निन्दिर्दुवे
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्टेश्वरजिनश्रीरूपमात्मोपम ॥

"जब मूर्ति आकार मे बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमे प्राय सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि बड़ी भी हुई और सौन्दर्य-बोध भी हो तो उसमे दैवी प्रभाव का अभाव खटकता है। लेकिन यहाँ तीनों के मेल से ससार द्वारा पूजित गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गई।"

मूर्ति के दर्शनो का सौभाग्य जिसे भी मिलता है वह अलौकिक पावनता के प्रभाव से पवित्र हो जाता है। आँखें टकटकी बाँधे स्तम्भित, हृदय गद्गद, शरीर रोमांचित और भावनाएँ शान्ति के अजस्र पयाजल से प्रक्षालित हो जाती हैं।

सोलहवीं सदी का एक दूसरा शिलालेख क्रमांक 516 दर्शनार्थी की भाव-विभोर स्थिति का वर्णन इस रूप में करता है—

आदि तीर्थद कोळविनु, हालुगोळनो,
इदु अमृतगोळनो, इदु गंगे नदियो,
तुंगभद्रेयो, इदु मंगळगौरियो, इदु
बृंदावनो, इदु शृंगारतोटमो
अधि, अधि या अधि, अधिपे
बले, तीर्थ बले तीर्थ जया जया जया जया ॥

अर्थात् यह क्या कोई पावन सरोवर है, दूध से भरा कुण्ड है, या परिपूर्ण अमृत-कुण्ड है ? क्या यह गंगा है ? तुंगभद्र है ? मंगलागौरी है ? इसे वृन्दावन कहें या शृंगार विहार ? सदा सर्वदा जय हो इसकी, चिर जयवन्त हो तुम !

अभिषेक की अन्त कथा

मूर्ति-निर्माण के उपरान्त स्वभावत चामुण्डराय के मन में मूर्ति के अभिषेक की भावना जागी। ऊँचा मचान बनवाया। दूध के सहस्रो कलश मंगवाये गये। चामुण्डराय का प्रभाव, अधिकार और साधन असीम थे। एक बुढ़िया जो प्रति दिन मूर्ति का निर्माण देखती थी और गोम्मटेश्वर को नमस्कार करती रहती थी, उसके मन मे भी इच्छा जागी कि वह भी भगवान के अभिषेक का पुण्य प्राप्त करे। फल की एक छोटी कटोरी (गुल्लिका) में इस बुढ़िया माई (अज्जी) ने दूध भरा और चल पडी अपनी मनोकामना पूरी करने। मूर्ति के पास पहुँच तो नहीं पाई पर उसने लोगों से बहुत अनुनय-विनय की कि थोडा-सा ही तो दूध है, जल्दी से चढ़ा देगी। लेकिन किसी ने उसकी बात न सुनी। वह कई दिन इसी तरह आती और निराश लौट जाती।

अभिषेक के लिए चामुण्डराय पहाडी की चोटी पर पहुँचे और दूध के कलशों से अभिषेक करना प्रारम्भ किया। जय-जय की ध्वनि के बीच वे कलश पर कलश भगवान बाहुबली की मूर्ति पर ढालने लगे। न जाने कितने कितने कलश मूर्ति पर ढाले गये, किन्तु सारा दूध मूर्ति की नाभि तक ही पहुँच पाया। नीचे तक पाँव का प्रक्षालन नहीं हो पाया। प्रयत्न करके जब चामुण्डराय अधीर हो गये, तो उन्होंने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से परामर्श माँगा। गुरु ने कहा—"देखो, यहाँ यह क्षीणकाय बुढ़िया प्रकट हुई है। उसके हाथ में दूध से भरी हुई छोटी-सी एक कलशी है (जो वास्तव में श्वेत गुल्लकेय फल का खोखला भाग है)। उसे भी अभिषेक करने दो।"

भला, क्या तो वह पात्र और कितना सा वह दूध ! किन्तु जब बुढ़िया की ओर से अभिषेक प्रारम्भ हुआ तो दूध मूर्ति के सारे शरीर को प्रक्षालता हुआ

पादतल तक पहुँच गया। चामुण्डराय के लिए यह पहले से भी अधिक आश्चर्य की बात थी। लेकिन क्षणान्तर में उनकी स्वयं ही समझ में आ गया कि बात क्या हुई। बुढ़िया के रूप में शायद कोई देवी है जो कहना चाहती है :

"चामुण्डराय, इतनी बड़ी मूर्ति का आविष्कार, उसका निर्माण तुमने अपने पराक्रम से किया। दूध के सहस्रों कलशों से प्रक्षालन किया है। अपने यश की कामना तुम्हारे मन मे है। किन्तु भक्ति के इस सारे वातावरण में तुम्हारे मन में यह अहकार आ गया है कि तुमने कितना बड़ा काम किया है! अतः यह सब निष्फल है। भक्ति की सफलता के लिए तो बुढ़िया की यह छोटी सी फल की कलशी पर्याप्त थी। जिसकी दृष्टि भगवान बाहुबली के चरणो की ओर है उस गुल्लिका का दूध तो चरणो तक पहुँचना ही था। भगवान बाहुबली के मस्तकाभिषेक का पुण्य-फल सदा से यही रहा है कि मन मे सयम की भावना आये, मद और अहकार गलित हो, और आडम्बररहित एकाग्रता मे भक्ति सार्थक हो! अहकार रूपी शल्य का उच्छेद किये बिना स्वय बाहुबली को भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सका।"

गोम्मटेश्वर मूर्ति का माप

सन् 1871 मे मस्तकाभिषक के समय मैसूर शासन की ओर से मूर्ति का ठीक-ठाक नाप लिया गया था। वह इस प्रकार है—

	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	50	0
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक (लगभग)	6	6
चरण की लम्बाई	9	0
चरण के अग्रभाग की चौडाई	4	6
चरण का अगुष्ठ	2	9
पादपृष्ठ की ऊपर की गोलाई	6	4
जघा की अर्ध गोलाई	10	0
नितम्ब से कर्ण तक	24	6
पृष्ठ-अस्थि के अधोभाग से कर्ण तक	20	0
नाभि के नीचे ऊपर की चौडाई	13	0
कटि की चौडाई	10	0
कटि और टेहुनी से कर्ण तक	17	0
बाहुमूल से कर्ण तक	7	0
वक्षस्थल की चौडाई	26	0
ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक	2	6

तर्जनी की लम्बाई	3	6
मध्यमा की लम्बाई	5	3
अनामिका की लम्बाई	4	7
कनिष्ठिका की लम्बाई	2	8

अहंकार को त्यागने और विनय की शिक्षा देने वाले गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने बाहुबली की मूर्ति का सफल अभिषेक करने वाली वृद्धा की मूर्ति स्थापित करने का परामर्श चामुण्डराय को दिया था। फलस्वरूप श्रवणबेल्गोल में भगवान बाहुबली की मूर्ति के चरणों के पास जो आंगन है, उसके बाहर गुल्लि-कायज्जी की मूर्ति भी चामुण्डराय ने स्थापित करवायी।

खण्ड : चार

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख
ध्वनि और प्रतिध्वनि

1

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख
इतिहास और संस्कृति के संवाद-स्वर

[कर्नाटक में जैनधर्म और संस्कृति का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए आए हुए चार सदस्यों का पूर्व-परिचित काल्पनिक दल]

पुराविद् . हमने जिन महत्त्वपूर्ण शिलालेखों का चन्द्रगिरि पर्वत पर अध्ययन किया है उनके सम्बन्ध में चर्चा कर लेना आवश्यक है ताकि हम अपने ज्ञान को क्रम-बद्ध लडी मे पिरोते चलें ।

वाग्मी मैंने प्रयत्न किया है कि शिलालेख जो अनेक भाषाओ में हैं—प्राचीन तमिल और कन्नड, तेलगु, मराठी और मलयालम में. ...

अनुगा . और, अनेक लिपियों मे भी । तमिल की प्राचीन लिपि—ग्रन्थ-तमिल, कन्नडलिपि में संस्कृत भाषा और मराठी भाषा, तथा मलयालम लिपि और नागरी लिपि में—ऐसे सभी शिलालेख हम लोगो ने यहाँ देखे हैं ।

पुराविद् लिपि के आधार पर लेखों का विश्लेषण करके देखा गया है । कन्नड, मलयालम, तमिल व तेलगु लिपि के लेखों को छोड़कर 36 लेखों की लिपि देवनागरी है और 17 लेखों की महाजनी या मुण्डी लिपि है जिसमें मात्राएँ नहीं होतीं । केवल अ और इ की मात्राओं से काम चलाया जाता है और ज-झ, ट-ढ, ड-ण तथा ब-भ मे कोई भेद व्यक्त नहीं होता । यह व्यापारियों की कामचलाऊ लिपि होती है ।

वाग्मी : कुछ लेखों में पंजाब प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों की टीकरी लिपि भी पाई जाती है ।

धृतवा : इसका अर्थ यह है कि श्रवणबेल्गोल सारे भारत का पवित्र तीर्थ था, और जैन संस्कृति भारत-व्यापी थी । वाग्मीजी ने बहुत परिश्रमपूर्वक इन शिलालेखों को पढ़ा है और अनुगा, फोटो द्वारा उनकी प्रतिकृति ले ली, इससे अध्ययन में सुविधा हो गई ।

अनुजा : मैंने प्रयत्न तो किया है, किन्तु अनेक चित्र साफ नहीं आये, क्योंकि शिलालेख पुराने पड गये हैं, अक्षर घिस गये हैं, यहाँ तक कि मिट भी गये हैं।

पुराविद् : जो लेख टूट गये, इधर-उधर फेंक दिये गये, या अज्ञानतावश यहाँ के वहाँ जड दिये गये या विलुप्त हो गये—हमारी वह ऐतिहासिक सम्पदा, सांस्कृतिक जानकारी का वह कोष सदा के लिए क्षय हो गया, या फिर क्षत-विक्षत हो गया।

वाग्मी यही कारण है कि अनेक शिलालेखो को ठीक-ठीक पढ़ना कठिन हो जाता है। कई खण्डित नाम इसीलिए पढ़े जा सके या पूरे किये जा सके क्योकि वे इतिहास-प्रसिद्ध नाम हैं जिनका ज्ञान पुराविद्जी को है। कई नाम आचार्यों के हैं जिनका परिचय अन्य स्रोतो से श्रुतज्ञजी को है।

श्रुतज्ञ एक बात जो विशेष सहायक हुई है, वह यह कि श्रवणबेलगोल का पूरा परिवेश धार्मिक और सांस्कृतिक रहा है, अत जहाँ कुछ थोडा-सा भी पढ़ा गया और आगे-पीछे के शब्दों के कुछ अक्षर भी स्पष्ट हुए तो पूरे प्रसंग को समझने का प्रयत्न सम्भव हो जाता है कि किस राजा या सेनापति के काल मे कौन आचार्य थे और कौन किसका शिष्य था। आचार्यों और साधुओ की गुरु-शिष्य पट्टावली शास्त्रों मे दी ही है। समाधिमरण, सल्लेखना और संन्यास सैकडो-हजारो मुनियो, राजाओ, सेनापतियो, श्रावक-श्राविकाओ के जीवन की साध रहे हैं। व्रत-उपवास करते हुए, तपस्या करते हुए, आध्यात्मिक चिन्तन मे लीन रहकर गुरु के सान्निध्य मे शान्ति और समता पूर्वक जिन्होने जीवन की दैहिक लीला समाप्त की उन भव्यजनो के धार्मिक प्रसंग शिलालेखो के अनेक संदर्भों को सार्थक कर देते हैं।

अनुजा पुराविद्जी, हमने जिस शिलालेख क्रमांक 1 का अध्ययन किया, उसमें उल्लेख था कि इस कटवप्र पर्वत अर्थात् इस चन्द्रगिरि पर्वत पर सात सौ ऋषियो ने समाधि प्राप्त की। आचार्य भद्रबाहु के देहत्याग के लिए सन्यास शब्द का प्रयोग हुआ है। यह समाधिमरण, सल्लेखना, संन्यास क्या है? इसे कुछ लोग आत्म-हत्या क्यों मान लेते हैं?

पुराविद् समाधिमरण को आत्म-हत्या मानना बहुत बडा अज्ञान है। श्रुतज्ञजी, आप बताते थे कि समाधिमरण तो एक विधान है, उसकी एक विशेष विधि है?

श्रुतज्ञ हाँ, आचार्य समन्तभद्र कृत 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' में इस विधि के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा गया है।

पुराविद् : आचार्य समन्तभद्र का समय ईस्वी सन् की दूसरी शती का उत्तरार्ध है। हाँ, श्रुतज्ञजी आप सल्लेखना या समाधिमरण के विषय में बता रहे थे न ?

श्रुतज्ञ : श्रावकाचार में लिखा है—

> उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे ।
> धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

अर्थात् जब उपसर्ग हो जाए, दुर्भिक्ष पड़ जाए, बुढ़ापा आ जाए या स्थिति ऐसी लगे कि अब इसका कोई प्रतिकार नहीं—जीवनलीला तो समाप्त होनी ही है—तब धर्म-भावना को अन्तरंग मे सुरक्षित रखने लिए व्यक्ति सयम और साधनापूर्वक शरीर का विमोचन करे, उसे समाप्त हो जाने दे, आचार्यों ने इसे सल्लेखना कहा है। यही समाधि-मरण है। अर्थात् व्यक्ति आत्म-धर्म (निज-स्वाभाव) मे लीन रहे, और शरीर छूट जाए। कितनी बड़ी समता और सयम आवश्यक है इस विधि के लिए !

अनुगा : ठीक है, आत्म-हत्या तो एक आवेग है। उसमें भावनाओ की शान्ति नही, वह तो घोर आत्म-हनन है।

श्रुतज्ञ : शास्त्रो में सल्लेखना की विधि की पूरी चर्चा है। सल्लेखना धारण करने से पूर्व श्रावक स्नेह और वैर दोनो भावो का त्याग करके वीतराग हो जाए, परिग्रह का त्याग करके मन को शुद्ध करे, अपने बन्धु-बान्धवों से प्रियवचन कहकर क्षमा मांगे, उन्हें क्षमा करे। शास्त्र के वचनो द्वारा अपने मन को प्रसन्न और उत्साहित करे। उत्तरोत्तर अन्न का आहार छोड़कर दूध लेना प्रारम्भ करे। दूध छोड़कर मट्ठा, उसे भी छोड़कर गर्म जल, फिर वह भी छोड दे। उपवास करे।

पुराविद् . वास्तव मे हिन्दू समाज में काशी-वास की भावना भी मोटे रूप से यही है। जैन सस्कृति मे इसे अध्यात्म और साधना की कोटि मे रख कर निश्चित पद्धति का निर्देशन किया गया है।

अनुगा : क्षमा कीजिए, यह तो प्रसगवश मैंने प्रश्न कर लिया। वास्तव मे तो हम शिलालेखों की चर्चा लिये बैठे हैं।

वाग्मी : यह चर्चा भी शिलालेखों की ही है। मैं कुछ उदाहरण देता हूँ जिन लेखो में उल्लेख है कि कितने दिन के व्रत-उपवास या तपस्या के उपरान्त किसका समाधिमरण हुआ। शिलालेख क्रमांक 1 पढ़ ही चुके हैं। शिलालेख क्रमांक 23 उदाहरणार्थ लें :

"अवेयरेनाड चित्तूर मौनिगुरवडिगल शिष्यित्तियर् नाममतिकन्तियर् मूरु तिंगल् नोन्तु मुडिप्पिदर् ।"

अर्थात् अवेयर राष्ट्र के चित्तूर स्थान के मौनि गुरु की शिष्या नागमति गन्तियर् (साध्वी) ने तीन मास के व्रत के पश्चात् शरीरान्त किया। सबसे आश्चर्य का शिलालेख क्रमांक 25 (पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण-पश्चिम में) है—

"बाला नेल्लिसकि मेले सर्प्पद महाफन्नाग्रदुल् सल्वबोल्
सालाम्बाल-तपोधविन्नु नवर्गों नूरेन्टु-संवत्सरं
केलौयुपिन्कटवप्रशैलमवर्हन्मा कलन्तूरन
बाले वेर्ग्गोरव समाधि-नेरेदोम मोन्सेर्दिबीर स्सिद्धियान्"

—बाले [1] कलन्तूर के उन महामुनि की बात सुनो जिन्होंने पहले पवित्र कटवप्र पर्वत पर आरोहण किया, और फिर 108 वर्षों तक घोर तपस्यारत रहे—जो इतनी कठिन थी कि मानो तलवार की तेज धार पर चल रहे हो, या अग्नि की शिखा पर या महाविषधर नाग के फण पर चल रहे हो। इन महान् गुरु ने व्रत धारण किए, समाधि मे स्थित हुए और सिद्धपद प्राप्त किया।

श्रुतज्ञ समाधिमरण के प्रसग में यह बात बहुत महत्त्व की है कि यदि हम श्रवण-बेलगोल के लगभग 573 शिलालेखो की विषय-वस्तु का विश्लेषण करें तो उनमे 100 लेख मुनियो, आर्यिकाओ और श्रावक-श्राविकाओ के समाधिमरण से सम्बन्धित हैं। ये शिलालेख इतने पुराने हैं कि चन्द्र-गिरि के 54 लेखो मे से 41 जो सातवीं शताब्दी के हैं, और 20 में से 10 जो आठवी शताब्दी के हैं, सब समाधिमरण और सन्यास की प्रभावना से सम्बद्ध हैं।

अनुगा : पुराविद्‌जी, आपने इतिहास की दृष्टि से जो लेख पढे हैं वे किस प्रकार के हैं ?

पुराविद् : अच्छा हुआ कि मैंने यह विश्लेषण कर लिया था अन्यथा सख्या न बता पाता। 40 लेख ऐसे हैं जिनमें योद्धाओं की स्तुति है, या आचार्यों की प्रशस्ति है, या स्थान विशेष के नामो का उल्लेख है। 160 लेख सघों और यात्रियो की याद के हैं जिन्होंने चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि पर्वतों की तीर्थयात्रा की। यह भी बता दूं कि 107 लेख दक्षिण से आए हुए संघो या यात्रियों के हैं और 53 उत्तर भारत के।

अनुगा : फिर एक प्रमाण सामने आया कि श्रवणबेलगोल सारे भारत की सांस्कृतिक आस्था का प्रतीक है।

वाग्मी अन्तरग महानता और पावन प्रयत्नो का परिचय मैं दे दूं ?

पुराविद् आपका अभिप्राय ?

वाग्मी : यह कि शेष 200 शिलालेखो की विषयवस्तु में 100 शिलालेख मन्दिरो
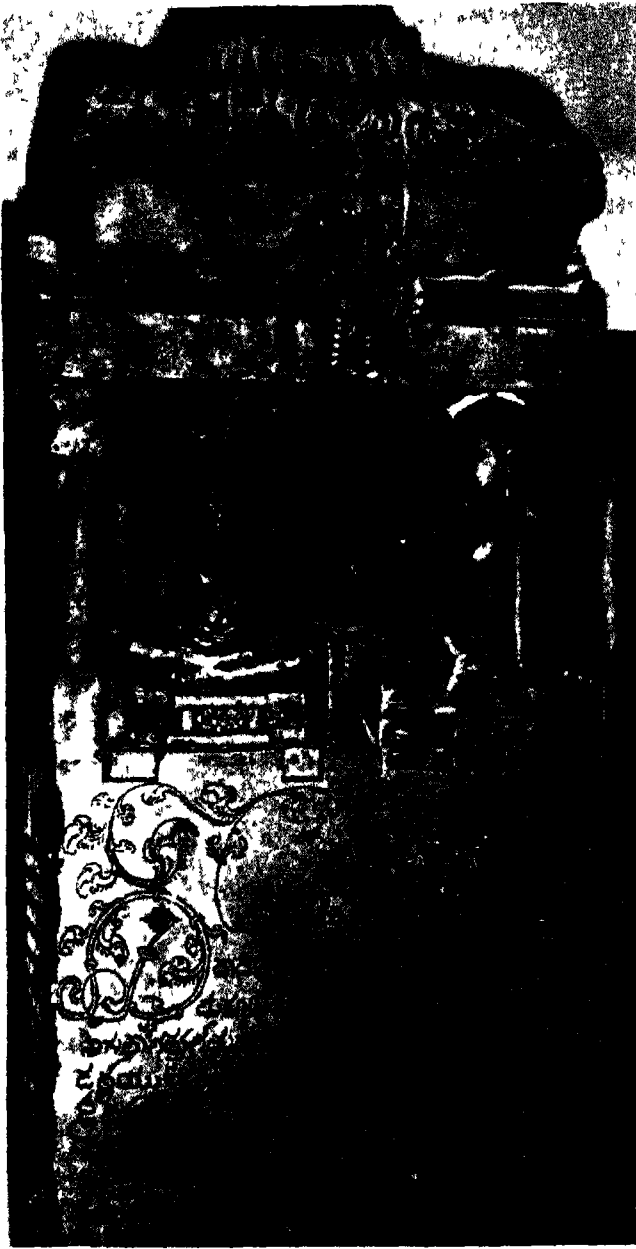
10 चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भलेख का ऊपरी भाग आचार्य मल्लिषेण की सल्लेखना का दृश्य

11. गोम्मटेश्वर-मूर्ति के निकट एक शिलालेख का ऊपरी भाग

[भा० पु० स०, मैसूर]

के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, वाचनालय, रंगशालाएँ, तालाब, कुआ, कुण्ड, उद्यान आदि के निर्माण और जीर्णोद्धार से सम्बन्धित हैं, और 100 शिलालेख दान और उन दाताओं के स्मारक हैं जिनके द्वारा पूजा, अभिषेक, आहारदान, मन्दिरों की सुरक्षा के लिए व्यय आदि का प्रबन्ध, दिये गये ग्राम, भूमि और धन के दान से सम्पन्न हुआ।

अनुजा : ओह, यह तो श्रवणबेल्गोल की सांस्कृतिक विभूति का और इसके प्रभाव का एक पूरा चित्र ही उभर आया !

पुराविद् : मुझे तो यह भी लगता है कि धर्म और संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने वाले ये शिलालेख इतिहास की जानकारी की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं । एक बात तो बहुत स्पष्ट है कि जिस प्रदेश मे बारह हजार मुनियों का संघ आया, जहाँ इतने मन्दिर बने, जहाँ बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ स्थापित हुईं, दीर्घकाल तक आचार्यों, साधुओं और श्रावकों का समाधिमरण सम्भव हुआ, वहाँ के राजा, नरेश, सेनापति और उन सबके वंशज अवश्य इन प्रवृत्तियो के समर्थक थे। वास्तव मे अनेक नरेश और राज-पुरुष स्वयं जैन थे, जैनाचार्यों के शिष्य थे।

वाग्मी आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त जिस संस्कार को जमा गए, वह कालान्तर मे बराबर पुष्ट होता रहा।

भुलक भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की स्मृति चन्द्रगिरि पर्वत के जिस शिलालेख क्रमांक 1 से स्पष्ट होती है, उसके अर्थ के सम्बन्ध में अर्थात् भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठायी जाती हैं, उस विषय मे क्या कोई अन्य प्रमाण यहाँ नही हैं ?

पुराविद् अवश्य हैं। देखिए, शिलालेख क्रमांक 34 (शक सं० 572 का) ·

> भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त-मुनीन्द्रयुग्मदिनोप्पेवल् ।
> भद्रमागिद धर्म्ममन्दु वलिक्केवन्दिनिसल्कलो ॥
> विद्रुमाधर शान्तिसेन-मुनीशनाक्किडएबेल्गोल ।
> अद्रिमेलशनादि विट्टुपुनर्भवक्केरे आगि…॥

अर्थात् जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था, उसके किंचित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। इन मुनियों ने बेल्गोल पर्वत पर अशन आदि का त्याग कर पुनर्जन्म को जीत लिया।

वाग्मी : पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भ पर लेख क्रमांक 77 भी दर्शनीय है—

> वन्द्यः कथन्नु महिमा बत भद्रबाहोर्
> म्मोहोरु-मल्ल-मद-मर्दन-वृत्तबाहो ।

यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्त

सुशुश्रूष्यतेस्म सुचिरं वन-देवताभिः ॥

अर्थात् उन महान् भद्रबाहु की महिमा का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है, जिनकी भुजाएँ मोहरूपी मल्ल के मद का मर्दन करने के कारण बलिष्ठ हो गई हैं, जिनका शिष्य बनने के कारण चन्द्रगुप्त की इतनी पुण्य-महिमा हुई कि वनदेवता उसकी सेवा-सुश्रुषा करने लगे।

श्रुतज्ञ इसी शिलालेख मे तो है न, पहली शताब्दी के महान् दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र की वह उक्ति जिसका आशय है—"पहले मैंने पाटलिपुत्र मे शास्त्रार्थ की भेरी बजायी, फिर मालव, सिन्धु और ठक्कप्रदेश में, फिर कांचीपुर और विदिशा मे। अब मैं करहाटक प्रदेश में आया हूँ जहाँ विद्या धारण करनेवाले योद्धाओं की भीड है। हे राजन्, मैं शास्त्रार्थ करने का अभिलाषी हूँ और दिखाना चाहता हूँ कि इस भीड मे शार्दूल (सिह) कैसे विनोदपूर्वक क्रीड़ा करता है?" हाँ, यह है वह उक्ति—

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता

पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकटं

वादार्थी विचराम्यहन्नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

वाग्मीजी, इसके आगे का श्लोक आप पढ़ दीजिए। सस्कृत समासो की छटा आपके मुख से अधिक शोभा देगी।

वाग्मी नहीं, शोभा तो आप ही के मुख से देगी, फिर भी मैं पढ़ देता हूँ। (कुछ रुककर) नहीं नही, इस सुन्दर श्लोक को अनु बिटिया पढ़कर सुनाए।

अनुगा आपकी आज्ञा। करती हूँ प्रयत्न।

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषाम् ॥

वाग्मी सुन्दर! सारांश यह कि जब समन्तभद्र शास्त्रार्थ के लिए सामने खडे हो जाते हैं तब बडे-से-बडे धूर्जटि की जिह्वा तालु के पीछे लग जाती है।

पुराविद् धूर्जटि शब्द टकार की शृंखला के प्रयोग द्वारा काव्य के चमत्कार के लिए ही प्रयुक्त है। किन्तु यह तो हम काव्य की माधुरी में भटक गए! इतिहास की बात तो बीच मे ही रह गई।

श्रुतज्ञ अच्छा है, इतिहास-रस के साथ काव्य-रस भी चलता रहे।

पुराविद् बहुत अच्छा कहा आपने। मैं तो मानता हूँ कि सब रसों के साथ-साथ

एक बड़ा रस 'इतिहास-रस' भी होना चाहिए । भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की चर्चा में एक शिलालेख का संदर्भ मैं श्रवणबेलगोल से बाहर का, किन्तु फिर भी श्रवणबेलगोल के अन्दर का, देना चाहता हूँ।

अनुभा : पुराविद्‌जी, यह कैसे संभव है कि बाहर का भी है और भीतर का भी ?

पुराविद् : अभिप्राय यह है कि वह शिलालेख है तो श्रीरंगपट्टन का, ई० सन् 900 का, किन्तु उसका संदर्भ है श्रवणबेलगोल का । उसमें कहा गया है कि कलवप्पु शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण-चिह्न हैं।

वाग्मी : इतिहास के अध्येताओं में लेख क्रमांक 1 को लेकर जो विवाद है और जिन-जिन विद्वानों ने भद्रबाहु, प्रभाचन्द्र और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में मन्तव्य दिए हैं उनका निष्कर्ष कहीं आया होगा । वह क्या है ?

पुराविद् . पुरातत्त्व के धुरन्धर विद्वान् रायबहादुर नरसिंहाचार्य ने, जिन्होंने अपना सारा जीवन लगाकर श्रवणबेलगोल के शिलालेखों का अध्ययन किया है, उनका पाठ और अर्थ निश्चित किया है, वे इन शिलालेखो के संग्रह के संपादक भी हैं। अतएव उनके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष ही प्रमाण है। यह लेख क्र० 251 (11वीं शती) जो भद्रबाहु गुफा मे उत्कीर्ण है—

'श्रीभद्रबाहु स्वामिय पादम जिनचन्द्र प्रणमतां ।"

अर्थात् जिनचन्द्र ने भद्रबाहु स्वामी के चरणो को नमस्कार किया । इसी प्रकार लेख क्र० 254 (13वीं शती) मे—चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि) के शिखर पर जो चरण-चिह्न अंकित हैं, उनके सम्बन्ध में लिखा है कि ये भद्रबाहु स्वामीके चरण हैं

"भद्र बाहु-भलि-स्वामिय पाद ।"

लेख क्र० 364 (ई० सन् 1432) में विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित सिद्धर-बसदि के स्तम्भ पर श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त का उल्लेख है

"यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि ।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता सर्व्व-श्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥
तदीय-शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः ।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभाव-प्रभूत-कीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥"

लेख क्र० 71 (सन् 1163) में भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा गया है और चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य—

(श्री) भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुत:
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमपरमो मुनि: ।
चन्द्र-प्रकाशोज्ज्वल-सान्द्र-कीर्ति
श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्य. ॥

लेख क्र० 77 (सन् 1129) में भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का जो उल्लेख मिलता है उसके सम्बन्ध में अभी-अभी वाग्मीजी ने बताया भी है कि उनकी सेवा वनदेवताओं द्वारा निरन्तर की जाती रही है—"शुश्रूयेऽस्म सुचिरं वन-देवताभि ।"

अनुगा इस सम्बन्ध में मैंने जो पढा है वह विन्सेंट स्मिथ का मत है। मैंने नोट किया है

"चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इस पर ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओ से ही पड़ता है। जैनियों ने सदैव उसे मगध सम्राट् बिम्बसार के सदृश जैन धर्मावलम्बी माना है—इसे झूठ कहने का कोई उपयुक्त कारण नही। 'शैशुनाग, नन्द और मौर्यकाल मे मगध में जैनधर्म जोर-शोर पर था। चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी एक कुशल ब्राह्मण की सहायता से प्राप्त की यह चन्द्रगुप्त के जैन होने के विरुद्ध नहीं पडती। 'मुद्राराक्षस' नाटक मे उल्लेख है कि एक जैन साधु नन्द नरेश का और बाद मे मौर्य सम्राट् के मन्त्री राक्षस का घनिष्ठ मित्र था। एक बार जब चन्द्रगुप्त को जैन-धर्मावलम्बी मान लिया तो फिर बारह वर्ष का दुर्भिक्ष, भद्रबाहु से जिनदीक्षा, दक्षिण की ओर गए सघ का श्रवणबेलगोल पहुँचना, भद्रबाहु के द्वारा वहाँ शरीर का त्याग, बारह वर्ष पश्चात् राजर्षि चन्द्रगुप्त द्वारा समाधिमरण किया जाना' सब मान्य हो जाता है। इसका समर्थन श्रवणबेलगोल के मन्दिरों, सातवीं शती के शिलालेखो तथा दसवीं शती के ग्रन्थो से होता है··"

"ईसापूर्व 322 में जब चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ हुए तो तरुण थे। जब 24 वर्ष पश्चात् उनके राज्य का अन्त हुआ, तब उसकी अवस्था 50 वर्ष से कम रही होगी। अत उनका राजपाट त्याग देना, उनके इतनी कम अवस्था मे मौर्यवश के इतिहास से लुप्त हो जाने का उपयुक्त कारण प्रतीत होता है। राजाओं के इस प्रकार विरक्त हो जाने के अन्य भी अनेक उदाहरण हैं, और बारहवर्ष का दुष्काल भी अविश्वसनीय नही। संक्षेपत' अन्य कोई वृत्तान्त उपलब्ध न होने के कारण जैन कथा ही सर्वोपरि प्रमाण है।"

उत्तरकालीन इतिहास

पुरविन्दु : उत्तरकालीन इतिहास की दृष्टि से श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों का बहुत महत्त्व है। यदि सबसे पहले किसी शिलालेख पर ध्यान जाता है तो...लेकिन, मुकुलजी आप बतायें—

मुकुल : राज्य की रक्षा, युद्धों में शत्रुओं का मान-मर्दन, उनकी पराजय, शूरवीरता के उच्चतम मानदण्ड और इतने सब विजयोल्लास के उपरान्त धर्माचार्य की शरण में जाकर समाधिमरण द्वारा समता-भाव से शरीर-त्याग का सबसे प्रभावकारी उदाहरण श्रवणबेल्गोल के समीप कान्तिनदोणे के कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ के दसवीं शताब्दी के शिलालेख (क्र०64) में है जिसमें गंगवंश के राजा मारसिंह का वर्णन है। शिलालेख प्रारम्भ होता है मैत्री के संदर्भ से कि मारसिंह ने .

- राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के लिए गुर्जर देश को विजय किया,
- कृष्णराज के विपक्षी अल्ल का मद चूर किया,
- विन्ध्यपर्वत की तराई में रहने वाले किरातों के समूहों को जीता,
- मान्यखेट में कृष्णराज की सेना की रक्षा की,
- इन्द्रराज चतुर्थ का अभिषेक कराया,
- पातालमल्ल के छोटे भाई वज्जल को पराजित किया,
- बनवासी-नरेश की धन-सम्पत्ति का हरण किया,
- माटूरवंश को पराभूत किया,
- नोलम्ब कुल के नरेशों का सर्वनाश किया,
- काडुवट्टि जिस दुर्ग को नहीं जीत सका था, उस उच्चङ्गि दुर्ग को स्वाधीन किया,
- शबराधिपति नरग का संहार किया,
- चालुक्य नरेश राजादित्य को जीता,
- तापी-तट, मान्यखेट, गोनूर, उच्चङ्गि, बनवासि व पाभसे के युद्ध जीते; तथा चेर, चोल, पाण्ड्य और पल्लव नरेशों को परास्त किया।

इस लेख की अन्तिम पंक्तियों में राजा के द्वारा 'धर्म' पुरुषार्थ की साधना का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है :

"...पलवीडि-मलेयोळं असविगुलं माण्डलिकंचमुवं काडिसिदं। मंगलं। धर्मसंगळं मनस्सी गुडधियिस्सिवजियमोमुख्यं राज्यमं पत्तुविट्टु बंकापुर-दोळ् अजितसेनभट्टारकर श्रीपादसन्निधियोळ् आराधनाविधियि मूवे

(ब) सं नोन्तु समाधियं साधिसिदं।"

अर्थात् उसने जैनधर्म का प्रतिपालन किया, अनेक जिनमन्दिर और मानस्तम्भ बनवाये, इन सब धार्मिक कार्यों को करने के उपरान्त एक वर्ष बाद राज्य-त्याग किया। तीन दिन की व्रत-साधना के उपरान्त बंकापुर मे अजितसेन भट्टारक के श्रीचरणो के समीप समाधि-साधना की। ऐसे प्रतापी नरेश की जिन उपाधियों की छटा इस शिलालेख में है, वे इस वीर के अनुकूल ही हैं—गगचूडामणि, गगवज्र, नोलम्बान्तक, गुत्तिय-गग, मण्डलिकत्रिनेत्र, गगविद्याधर, गगकन्दर्प, गगसिंह, सत्यवाक्य, कोकणवर्म-धर्म-महाराजाधिराज आदि।

पुराविद् इस शिलालेख से और इतिहास के अनेक सदर्भों से यह स्पष्ट है कि गगवश और राष्ट्रकूट वशो मे मैत्री थी, और इस मैत्री का आधार प्रमुख रूप से जैनधर्म था। चोल-नरेश शैव थे, अत. उनकी पक्षधरता जैनेतर धर्म के प्रति अधिक रही।

अनुगा अनेक शिलालेखो मे जैनाचार्यों के सम्बन्ध मे ऐसा वर्णन आता है कि वे शास्त्रार्थ मे धुरन्धर थे, प्रतिवादियो को उन्होने बारबार हराया। यह बात क्या मुख्य रूप से ठीक है ?

वाग्मी हाँ, अनेक शिलालेख यहाँ मैंने पढ़े हैं। और, आचार्यों के जीवन-वृतान्त मे, प्रशस्तियो मे इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं।

श्रुतज्ञ शिलालेख क्रमाक 70 में उल्लेख है कि बारहवीं शताब्दी मे महा-मण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डित ने चार्वाक्, बौद्ध, नैयायिक, कापालिक और वैशेषिको को शास्त्रार्थ मे हराया।

वाग्मी यह लेख पढ़ने-सुनने योग्य है। सुनिए,

"जितवृजिनजिनपतिमतपयःपयोधिलीलासुधाकररु। चार्व्वाकाखर्व-गर्व्वदुर्व्वारोर्व्वीधरोत्पाटनपटिष्ठनिष्ठुरोपालम्भदम्भोलिदण्डरु अकुण्ठ-कण्ठ-कण्ठीरव-गभीर-भूरि-भीम-ध्वान-निर्द्दलितदुर्म्मदबौद्ध-मदेभवण्डरु। अप्रतिहत-प्रसरदसम-रसवदुपन्यसननित्यनैसित्य-पात्र-खात्र-दलितनैयायिकनयनिकररु। चपलकपिलविपुलविपिनदहन-दावा-नलरु। शुम्भदम्भोद-नाद-नोदितविततवैशेषिकप्रकरमदमरालरुं। शरदमलशशधर-करनिकर-नीहारहाराकारानुवर्त्ति-कीर्त्तिवल्लीवेल्लि-ततदिगन्तरालरुमप्पश्रीमन्महामण्डलाचार्य्यर श्रीमद्देवकीर्त्तिपण्डितदेवरु।

कुर्व्वेनम कपिल-वादि-वल्मीक-वह्नये

चार्व्वाक्-वादि-मकराकर-वाडवाग्नये।

बौद्धोत्तुङ्गक्षितिधरप्रविभेदकायवे
श्रीदेवकीर्तिमुनये कविताविवाग्मिने ।।"

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के निर्मल ज्ञान का गुणगान सारे संसार मे हो रहा है। उस (ज्ञान-सागर) के लिए जो चन्द्रमा के समान है; प्रतिवादी के परिहार के लिए वज्र है, चार्वाक् के अभिमान-पर्वत को चूर करने वाले, अपराजेय बौद्धगज के मद को सिंह-गर्जना के भयकर प्रहार से पराभूत करने वाले, नैयायिकों के गर्व के सरकण्डों को तीक्ष्ण बुद्धि के हँसिये से नष्ट करने वाले, अपनी अनुपम वाणी के धारावाही चमत्कार से चंचल-मति कपिल-सिद्धान्त को इस प्रकार दहन कर देने वाले जैसे दावानल, चारों ओर व्याप्त वैशेषको के हंस-दल को अपनी गम्भीर वाणी की गर्जना से पलायन-प्रवृत्त करने वाले'''आदि।

श्रुतज्ञ आपने देखा होगा वाग्मीजी, लेख क्रमांक 77 में मुनि महेश्वर के विषय मे कहा गया है कि उन्होने 70 शास्त्रार्थों मे प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वियो को जीता। इसी प्रकार शत्रु-भयकर के विशाल महल पर विज्ञप्ति लगा दी गई थी कि मुनि विमलचन्द्र ने पाशुपत, बौद्ध, कापालिक और कपिल-सिद्धान्त के मानने वालो को जब चुनौती दी, तो सब उद्विग्न हो गये।

पुराविद् · यह तो वही लेख है जिसमें समन्तभद्र की शास्त्रार्थ विजय का उल्लेख है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

वाग्मी मुझे एक दूसरे लेख का ध्यान आ रहा है। वह है लेख क्रमाक 360 जिसमे कहा गया है कि चारुकीर्ति का यश इतना प्रशस्त था, कि चार्वाको को अपना अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियाँ, भट्ट को अपने सब साधन और कणाद को अपना छल छोडना पडा।

कत्तले बसदि के लेख क्रमांक 79 मे बडे रोचक ढंग से गोपनन्दि आचार्य की शास्त्रार्थ-प्रतिभा का वर्णन है

"मलेयदे शांख्य भट्टुविर भौतिक पोंगि कडंमि बागदि
सोंलतोलबुद्ध बौद्ध तले-दोरदे वैष्णवबडंगडंगु बाग्-
बलद पोडर्म्पु बेड गड चार्व्वक चार्व्वक निम्म दर्प्पमं
सलिपने गोपणन्दि-मुनिपुंगवनेम्ब मदान्ध-सिन्धुरं ।।"

अर्थात् 'सांख्यगणो ! विरोध न करो, चुप हो जाओ। भौतिक अहंकार से फूल न जाओ। बुद्धमान बौद्धो, अपना शीश न दिखाओ, जाओ, जाओ। ओ वैष्णवो, अपने आपको छुपा लो, छुपा लो। ओ मृदुभाषी चार्वाको, अपनी वाणी की शक्ति का अहंकार छोड़ दो। भला मुनि-

पुगव गोपनन्दि, जो मत्त गज की भाँति है, तुम्हारे दर्प को सहन करेंगे ?'

आगे लिखा है

"षड्दर्शन के मार्ग पर चलने वाले विरोधी हाथियो को इस एक गज ने खदेड़कर भगा दिया। जैमिनी आतंकित हो गये, सुगत रुक गये और पराजय की मोहर लगा दी, अक्षपाद ने झट से चूड़ियाँ पहन लीं, लोकायतो का गर्व खर्व हो गया और सांख्य प्राण बचाकर भागे।"

पुराविद् किन्तु यह लेख सन् 1398 का है। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक, विशेषकर 11-12वी शताब्दी मे जैनाचार्यो का इतना अधिक प्रतिवाद हुआ और जैनधर्म पर इतने अत्याचार हुए कि आचार्यों और गुरुओ को अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता के लिए शास्त्रार्थ करने पड़े। जैन ज्ञान का तर्क और सिद्धान्तपक्ष बहुत प्रबल रहा आया और उसकी पृष्ठभूमि मे इन आचार्यों का ज्ञान-बल ही उनका एकमात्र सहायक था। शास्त्राचार्य का गर्व भी कितना वाचाल था!

अनुजा कहते हैं जैन साधुओ मे तप की सिद्धि के कारण अलौकिक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाते थे ?

वाग्मी हाँ, ऐसे प्रसग भी हैं कि किस प्रकार किसी मुनि ने किसी राजा के सर्पदश का विष दूर कर दिया। सिद्धर बसदि के स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 360 मे कहा गया है कि चारुकीर्ति पण्डित ने युद्ध क्षेत्र मे मृतप्राय राजा बल्लाल को तत्काल स्वस्थ कर दिया था। उनके सम्बन्ध मे एक दूसरे शिलालेख, क्रमांक 364 मे कहा गया है कि चारुकीर्ति मुनि के शरीर को छूकर जो वायु प्रवाहित होती थी वह रोगो को शान्त कर देती थी।

श्रुतज्ञ लेकिन, जैन मुनियो ने मन्त्र-तन्त्र और चमत्कार को धर्म-प्रचार का साधन नही बनाया। बल्कि विचित्र बात तो यह है कि जैन शासन के पराभव की दुःखद घटना उक्त राजा बल्लाल के बाद सन् 1109 मे विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव के गद्दी पर बैठने के उपरान्त घटी। जैन सेनापतियो ने सहायता करके बिट्टिगदेव के राज्य को चोलों की अधीनता से मुक्त करवा दिया था। वह जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु एक बार उसकी कन्या को किसी पिशाच ने ग्रस्त कर लिया। जैन आचार्य और पण्डितो ने प्रयत्न किया, किन्तु कन्या पिशाच-मुक्त न हो पाई। तभी रामानुज आचार्य ने उसे स्वस्थ कर दिया। और भी अनेक चमत्कार उन्होने किये। परिणाम यह हुआ कि विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव ने जैनधर्म का परित्याग कर दिया। इतना ही नहीं, उसने जैनियो

को कोल्हू में पिसवा दिया।

पुराविद् : यह बात अप्रचलित सी है, लेकिन ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि यद्यपि विष्णुवर्धन ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया था, किन्तु उसकी रानी शान्तलदेवी जैनधर्म की कट्टर भक्त थी। उसके पिता शैव थे, उसकी माता जिन-भक्त थी। शान्तलदेवी ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव की प्रेरणा से जैनधर्म की उन्नति के अनेक कार्य किये। उसने सन् 1123 में श्रवणबेल्गोल में शान्तिनाथ भगवान की मूर्ति स्थापित की। शान्तलदेवी ने श्रवणबेल्गोल का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। मन्दिर का नाम भी विशेष—सवतिगन्धवारण, अर्थात् सौत रूपी हाथी के मद को चूर करने वाला, अथवा उच्छृंखल सौतों का गर्व चूर-चूर कर देने वाला मत्तहाथी।

अनुगा कोई रूपवती एवं गर्विता नारी ही ऐसा करेगी।

पुराविद् इसमे सन्देह नहीं कि शान्तल अत्यन्त रूपवती थी, गायन और नृत्य मे कुशल। पति विष्णुवर्धन उसके वश मे। साथ ही शिलालेख क्रमांक 176 और 162 में उसकी धार्मिकता की जो प्रशंसा लिखी है, वह भी उसके लिए गर्व की बात है। उनमे उसके पातिव्रत और धर्मपरायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा है। उसे रुक्मिणी, सत्यभामा और सीता के समान कहा गया है। और, उसके वैराग्य की पराकाष्ठा यह कि 1131 ई० मे उसने शिवगग स्थान मे सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण किया।

वाग्मी बार-बार कैसे यह तथ्य सामने आ जाता है कि अनेक सांसारिक उपलब्धियो—यश, मान-मर्यादा, रूप और गुण के गौरव के भोग के बीच के सांस्कृतिक प्रभाव में व्यक्ति अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति से नही जैन धर्म चूकता—वहाँ सब कुछ त्याग, संयम और प्राणीमात्र के लिए समभाव मे समाविष्ट हो जाता है।

धुतम . यह तीर्थंकरों की परम्परा का प्रताप है, गौतम गणधर और भद्रबाहु स्वामी जैसे निर्ग्रन्थ महामुनियों का प्रभाव है।

वाग्मी आचार्यो के इस प्रसग में हम कुन्दकुदाचार्य का उल्लेख कैसे भूल गये ?

धुतम . उनका नाम मैं तो नहीं भूला। कैसे भूल सकते हैं उन्हें जो जैनधर्म के मंगल-स्मरण में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद हृदय में विराजमान रहते हैं। प्रत्येक शास्त्र-सभा जिनके स्मरण से प्रारम्भ होती है। प्रत्येक गुरु-शिष्य-पट्टावली में जिनका नाम प्रमुख है। जैन सिद्धान्त के जो अद्वितीय आदि-व्याख्याताओं में हैं। जो शौरसेनी

प्राकृत में 'समयसार' जैसे श्रेष्ठ सिद्धान्त-ग्रन्थों के रचनाकार हैं। मथुरा प्रदेश की शौरसेनी प्राकृत को अपनी भाषा का आधार बनाकर जिन्होंने उत्तर की भावधारा को दक्षिण में और दक्षिण की विचार-धारा को उत्तर में प्रवाहित किया।

पुराविद् श्रवणबेल्गोल के शिलालेख इनके पुण्य-स्मरण से पूरित हैं।

युवक . मूल संघ और कुन्दकुन्द-आम्नाय के आचार्यों की पट्टावली श्रवण-बेल्गोल के शिलालेखो के आधार पर ही तो तैयार की गई है। उसे देखें तो सही—कितनी विशाल और समर्थ ज्ञान-परम्परा है यह ! आचार्य-पट्टावली का प्रदर्शन]

अनुगा मेरा प्रश्न अधूरा रह गया। क्या जैनधर्म को विरोधियो का आक्रमण सहन नही करना पडा ? इस बात का क्या आधार कि तन्त्र-मन्त्र के चमत्कारो के कारण अन्य धर्मावलम्बी बाजी ले गये ?

पुराविद् दसवी शताब्दी के अन्त मे राष्ट्रकूट और गंगराज वंश एक साथ पतनोन्मुख हो गये। और, उनके साथ ही जैनधर्म का प्रभाव क्षीण होता गया। उधर वीरशैवो के प्रति जैन मान्यतावालो का उपेक्षा भाव रहा। जब बसवेश्वर ने शैव धर्म का पुनरुद्धार किया और जैनियो का राज्य-सरक्षण प्रभावहीन हो गया तो बसव के उत्तराधिकारियो ने शान्तरो, चंगाल्वो और कारकल के भैरव ओडयरो, कुर्ग के राजाओ तथा अन्य छोटे-मोटे राज्यो के शासको को जैनधर्म से पराङ्मुख बनाकर शैव-धर्म मे दीक्षित कर लिया। यह इतिहास की स्वाभाविक गति थी। सन् 1195 के एक शिलालेख का उल्लेख 'मेडिवल जैनिज्म' के पृष्ठ 281 पर मिलता है जिसमे कहा गया है

"शिवभक्त एकान्त रामय्य समस्त शैव तीर्थों का दर्शन करने के पश्चात् पुलिगेरे आया। वहाँ के स्थानीय देवता सोमनाथ ने उसे जैनों के विरुद्ध धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित किया। अतः रामय्य जैनो के एक प्रमुख केन्द्र अब्बलूर नामक स्थान मे गया और उसने अपना प्रभुत्व प्रमाणित करने के लिए जैनों को चुनौती दी। उसने कहा कि वह अपने धर्म का महत्त्व प्रमाणित करने के लिए अपनी गरदन काट देगा और फिर शिव के प्रभाव से उसकी गरदन जुड जायेगी। यह सुन कर जैनो ने वचन दिया कि यदि वह ऐसा कर सकेगा तो हम लोग शैवधर्म स्वीकार कर लेंगे। उन्होने एक ताडपत्र पर इसको लिख भी दिया। रामय्य ने अपनी गरदन काटकर शिव को चढ़ा दी और सात दिन बाद उसकी गरदन पुन. जुड़ गयी। पश्चात् रामय्य ने जैनों को सताया और उनकी मूर्तियाँ तोड़ डाली। जैनो ने राजा बिज्जल (1156-

1167 ई०) से शिकायत की। राजा ने रामय्य को बुलाया। रामय्य ने वह ताड़पत्र दिखलाया जिस पर जैनों ने अपना वचन लिखा था। उसने पुनः जैनो को चुनौती दी कि वे अपने सात सौ मन्दिरों को ध्वंस कर दें तो वह पुन. अपना सिर काटकर सात दिन मे उसे जोड़ सकता है। किन्तु जैनों को उसकी चुनौती स्वीकार करने का साहस नही हुआ। राजा बिज्जल ने रामय्य को विजयपत्र दिया और उसके देवता सोमनाथ के नाम कई गाँव दिये।

स्थायी . किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि जैनधर्म का प्रभाव इन घटनाओं के कारण कर्नाटक प्रान्त से समाप्त हो गया। इतिहास की घटनाएँ आती और जाती हैं, किन्तु संस्कृति का वह प्रभाव जो जन-मानस में गहरे पैठ जाता है, जो भाषा, साहित्य और कला के माध्यम से स्थायी रूपाकार ले लेता है, वह समय के थपेड़ो को सहकर भी अक्षुण्ण रहता है।

सुलह एक बात और भी है। यदि जैनधर्म और जैन धर्मायतनो के प्रति जनता की सद्भावना न होती तो उसकी सुरक्षा ही नहीं हो सकती थी। वैष्णव और जैनियो के अनेक विवादो को शासको ने समाप्त किया और सद्भाव बढ़ाया। शिलालेख क्र० 475 (शक स० 1290) इस विषय मे विशेष महत्त्व रखता है। यह लेख विजयनगर-काल के बुक्कराय प्रथम का है। लेख का प्रारम्भ रामानुज की स्तुति से होता है—

"रामानुजो विजयते यति राज-राज"

फिर जो कहा गया है उसका अर्थ है

"वीर बुक्कराय के राज्य-काल मे जैनियो और वैष्णवो मे झगड़ा हो गया। तब जैनियो मे से आनेयगोण्डि आदि नाडुओ ने बुक्कराय से प्रार्थना की। राजा ने जनियों और वैष्णवों के हाथ से हाथ मिला दिये और कहा कि जैन और वैष्णव दर्शनो मे कोई भेद नही है। जैन-दर्शन को पूर्ववत् ही पंच महावाद्य और कलश का अधिकार है। यदि जैनदर्शन को हानि या वृद्धि हुई तो वैष्णवों को इसे अपनी ही हानि या वृद्धि समझना चाहिये। श्रीवैष्णवों को इस विषय के शासन (आदेश) समस्त राज्य की बसदियो मे लगा देना चाहिये। जैन और वैष्णव एक हैं, वे कभी दो न समझे जावें।"

और भी,

"श्रवणबेल्गोल में वैष्णव अंग-रक्षकों की नियुक्ति के लिए राज्य भर में जैनियों से प्रत्येक घर के द्वार पीछे प्रतिवर्ष जो एक 'हण' लिया

जाता है उसमें से तिरुमल के तात्मय देव की रक्षा के लिए बीस रक्षक नियुक्त होंगे और शेष द्रव्य जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार, पुताई आदि में खर्च किया जायेगा। यह नियम प्रतिवर्ष जब तक सूर्य-चन्द्र है तब तक रहेगा। जो कोई इसका उल्लघन करे वह राज्य का, संघ का और समुदाय का द्रोही ठहरेगा। यदि कोई तपस्वी या ग्रामाधिकारी इस धर्म मे प्रतिघात करेगा तो वह गगातट पर एक कपिला गौ और ब्राह्मण की हत्या का दोषी होगा।"

वाचकी देखने की बात यह है कि कर्नाटक के शासको ने किस प्रकार विभिन्न धर्म के अनुयायियो से सद्‌भाव बनाये रखने का प्रयत्न किया। जैनियो के अधिकार की रक्षा का निर्णय, वैष्णवो के धर्म की शब्दावलि में इस प्रकार किया गया कि जैनेतर व्यक्ति अपने वचन की रक्षा अपनी इष्ट-मान्यता की सौगन्ध खाकर करें। जैनो या वैष्णवों के लिए इससे बड़ा अभिशाप और क्या होगा कि यदि वह वचनभंग करते हैं तो ब्राह्मण की हत्या और गौवध के दोषी होगे। इस खोटे कर्म की जघन्यता पर जोर देने के लिए एक श्लोक भी अन्त मे खुदवा दिया

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेति वसुन्धराम्।
षष्टिवर्ष-सहस्राणि विष्टायां जायते कृमि ॥

अर्थात् भूमि (धर्म कार्य के लिए) स्वय दी हो या उसे किसी अन्य ने दिया हो, जो उसका हरण करेगा वह छह हजार वर्ष तक विष्टा का कीड़ा बना रहेगा।

पुराविद् . कर्नाटक मे यह विवाद जैनो और वैष्णवो का ही नही था, शैवो और वैष्णवो मे भी दार्शनिक सिद्धान्तो को लेकर भेद रहा—मूर्तियो और उपासना की पद्धतियो के कारण विवाद बढ़ा।

श्रुतज्ञ किन्तु प्रत्येक विवाद का हल समता-भाव के कारण निकलता गया। शैव-वैष्णव विवाद का हल 'हरिहर' की सयुक्त मूर्ति की कल्पना द्वारा कर लिया गया।

वाचकी एक अर्थ में वीर-शैव धर्म के समर्थक गुरुओं ने समय को देखते हुए सामाजिक और धार्मिक सुधार के आन्दोलन चलाये। जनता उनकी ओर आकृष्ट हुई। तब वैष्णवो और जैनो को भी सावधान होना पड़ा। सबने अपने अपने धर्म और दर्शन का प्रचार जोर-शोर से प्रारम्भ किया। बड़ी हलचल का समय था वह। यही कारण है कि इन शताब्दियो मे अनेक आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। श्रुतज्ञ जी, है न यह बात ? कुछ नाम बताइये।

श्रुतज्ञ · अवश्य। कुछ आचार्यों के और उनके ग्रन्थो के नाम गिनवाता हूँ।

इनका उल्लेख शिलालेखों में है।

- लेख क्र० 360 के अनुसार उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की प्रति को शिवकोटि सूरि ने अलंकृत किया।
- लेख क्र० 77 (सन् 1129) में कतिपय शास्त्रकारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार है :

  वज्रनन्दि मुनि——————नवस्तोत्र
  सुमतिदेव ——————सुमतिसप्तक
  चिन्तामणि ——————चिन्तामणि
  श्रीवर्द्धदेव ——————चूडामणि
  चन्द्रकीर्ति गणि——————श्रुतबिन्दु
  दयालपाल मुनि——————रूपसिद्धि

- लेख क्र० 71 (सन् 1163) के अनुसार पूज्यपाद देवनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक तथा समाधिशतक की, और श्रुत-कीर्ति त्रैविद्य ने राघव-पाण्डवीय की रचना की।
- लेख क्र० 569 के अनुसार श्रीपाल त्रैविद्यदेव ने विजयविलास तथा लेख क्र० 364 (सन् 1432) के अनुसार चारुकीर्ति मुनि ने सारत्रय और सिद्धान्तयोगी ने सिद्धशास्त्र का प्रणयन किया।
- लेख क्र० 360 मे कुन्दकुन्दाचार्य के सम्बध मे उनके इस अतिशय का उल्लेख है कि वह आकाश-गमन कर सकते थे और पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर तो चलते ही थे।

पुराविद् हो सकता है, अलंकारिक भाषा मे यह कहने का तात्पर्य हो कि वह अन्तरग और बहिरंग परिग्रह से अछूते रहते थे।

श्रुतज्ञ सचमुच, यही वाक्य ज्यो का त्यो वहा आया है।

अनुगा महिलाओ के समाधिमरण के तो अनेक उल्लेख आपने बताये, किन्तु उनके कृतित्व के कोई अन्य आयाम भी हैं ?

श्रुतज्ञ वास्तव मे श्रवणबेलगोल के सारे परिवेश मे महिलाओ की भक्ति, त्याग, व्रतसाधना, सल्लेखना ही प्रमुख हैं। राज्य-व्यवस्था मे किसी महिला का हाथ रहा हो, ऐसा कही मेरे देखने मे नहीं आया।

पुराविद् नहीं, ऐसा नहीं। इतिहास मे उल्लेख है कि सन् 911 में जब नागर-खण्ड के अधिकारी सतरस नागार्जुन का देहान्त हो गया तो राजकाज का दायित्व उसकी पत्नी जाक्कियब्बे को संभालना पड़ा। उसने बड़ी दक्षता के साथ राज्य-सचालन किया। बड़ी वीरांगना थी वह। और, जब उसका अन्त समय समीप आया तो उसने बन्दनि नामक स्थान पर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्यागा।

वाग्मी रानियों और राजघरानों से सम्बन्धित महिलाओं के धार्मिक कार्यों का प्रचुरता से उल्लेख है

(1) दसवीं शताब्दी की अत्तिमब्बे ने, जो सेनापति मल्लप की पुत्री और नागदेव की पत्नी थी, पोन्नकवि के शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियाँ लिखवाकर शास्त्र-भण्डारों मे भेजीं। पन्द्रह हजार मूर्तियाँ सोने और रत्नो की बनवायी।

(2) इसी काल की पामब्बे ने, जो राजा भूतुग की बड़ी बहिन थी, तीस वर्ष तक तपस्या की। पोचब्बरसी, भाबलदेवी, चट्टलदेवी, महादेवी, पम्पादेवी आदि अनेक महिलाओ के नाम भी आते हैं।

अनुगा क्या कर्नाटक का कोई ऐसा राजवश भी है जिसके प्रताप के साथ महिलाओ की कीर्ति सबसे अधिक जुड़ी हुई है ?

श्रुतज्ञ क्या समझते हैं, पुराविद्‌जी ?

पुराविद् इस श्रेणी मे मुझे तो होय्सल वश सर्वोपरि लगता है। सबसे अधिक शिलालेख भी इसी वश के व्यक्तियो के हैं। कालक्रम से विष्णुवर्धन के 10, नरसिंह प्रथम के 3, बल्लाल द्वितीय के 4, नरसिंहदेव द्वितीय के 3। फिर 12वीं शताब्दी के 19 और तेरहवी के 4। विष्णुवर्धन के समय मे पोयसल् सेट्टि और नेमि सेट्टि की माताओ मच्चिकब्बे और शान्तिकब्बे ने चन्द्रगिरि के तेरिन बसदि का निर्माण कराया और फिर भानुकीर्ति मुनि से दीक्षा ले ली। (लेख 229, शक स 1039)।

वाग्मी शिलालेखो के अनुसार गगराज का कृतित्व बहुत विशिष्ट है !

पुराविद् अवश्य। वह विष्णुवर्द्धन नरेश के सहायक राजपुरुष थे। लेखो मे गगराज की वशावलि और उनकी उपलब्धियाँ विस्तार से दी गई हैं। लिखा है—

"जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल, विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गांडीव सहायक हैं उसी प्रकार विष्णुवर्द्धन के गगराज सहायक थे।"

कन्नेगल के युद्ध मे गगराज ने विष्णुवर्द्धन की ओर से चालुक्यो को जीत लिया था और विष्णुवर्द्धन अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

श्रुतज्ञ आप तो जानते ही हैं पुराविद्‌जी, कि नरेश ने प्रसन्न होकर गगराज से कहा, 'आपकी जो मनोकामना हो कहें, मैं पूरी करूंगा।' और इस धर्मात्मा सेनापति ने विष्णुवर्द्धन से परम नामक गाँव माँगकर उन मन्दिरो को अर्पित कर दिया जो उसकी माता ने बनवाए थे। इसी प्रकार विजय के उपलक्ष्य मे उसने राजा से गोविन्दवाडि ग्राम माँगा और उसे गोम्मटेश्वर को अर्पित कर दिया।

वाग्मी : इस वंश के राजपुरुष और महिलाएँ शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। सारा परिवार धर्म-रत था। गंगराज की भार्या लक्ष्मी ने अपने भाई बूच और बहिन देमेति की मृत्यु की स्मृति में शिलालेख लिखवाया, जैनाचार्य मेघचन्द्र की स्मृति में लेख उत्कीर्ण करवाया। इसी महिला ने एरडुकट्टे बसदि का निर्माण कराया। गंगराज की माता पोचब्बे की स्मृति में कत्तले बसदि नामक मन्दिर का निर्माण करवाया, शासन बसदि (इन्द्रकुलगृह) बनवाई। गंगराज ने अपनी बड़ी भाभी अक्कमब्बे (बम्मदेव की भार्या) की स्मृति में उसके सत्कार्यों का उल्लेख करने वाला लेख उत्कीर्ण करवाया। गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया। प्रत्येक कार्य का उल्लेख अलग-अलग शिलालेखो मे है।

अनुगा किसी शिलालेख की कोई मनोरंजक बात ?

वाग्मी श्रुतज्ञजी, बतायें, या पुराविद्‌जी !

पुराविद् · फिर तो सन् 982 के शिलालेख क्रमांक 163 की बात करनी होगी, जिसमे राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र चतुर्थ की दक्षता का वर्णन है।

अनुगा युद्ध मे वीरता का ?

पुराविद् नही, 'पोलो' के खेल का—उसे पोलो ही कहना चाहिये। लिखा है

"श्रीगे विजयक्के विहृंगे।
चागक्कवर्टिगे असके पेम्पिगे नित-
क्कागिरमिबेन्दु कन्दुक-
वागमबोले नेगल्दुमल्ले वीरर वीर।
ओलगं दक्षिण सुकरदुष्करम पोरसल सुकरदुष्करमेवमं
ओलगे वामदविषममनल्लिय विषमदुष्करम निम्बदर पोरग-
ग्गलिके येनिबति विषममनदरतिविषम दुष्करमेकल दुककमं
एलेयोलोर्व्वने चारिसल्बल्लनाल्कुप्रकरमुमनिन्द्रराजं।"...

अर्थात् यह वीरो मे वीर इन्द्रराज कन्दुक (गेंद) का खेल खेलता है, क्योकि वह मानता है कि इस क्रीडा में श्रीवृद्धि है, विजय है, विद्या-बुद्धि है, उदारता है, वीरता है, यश है, महानता है—सभी बातें हैं। ससार मे इन्द्रराज ही एक ऐसा व्यक्ति है जो सभी प्रकार की कन्दुक-कला में दक्ष है। सुकर, दुष्कर, विषम और विषम-दुष्कर गति की गेंद वह चारो ओर फेंक सकता है। अन्दर, बाहर, दायें, बायें। चारो ओर फेंके जाने पर 338 चक्र बनते हैं। गेंद पर आघात लगाने के तो एक करोड़ तरीके हैं...और गेंद पर बल्ले का आघात इस तरह लगे कि ठीक निशाने पर जाये—न आगे बढ़ने पाए, न ओछी रह जाये।...गेंद चाहे काली मिर्च से भी छोटी हो, स्टिक चार अगुल से भी

छोटी हो, चौड़ा पर्वत से भी विशाल हो, घेरा पृथ्वी जैसा बड़ा ही क्यों न हो, इन्द्रराज को सन्तोष नहीं होगा तब तक जब तक वह आठ या दस चक्र पूरे न कर ले।

श्रुतज्ञ . आश्चर्य है!

वाग्मी . वास्तव में शिलालेख में तो कन्दुक-क्रीड़ा का वर्णन और भी विस्तार से है—चौदहवें पद्य से चौबीसवें पद्य तक।

पुराविद् सच बात तो यह है कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख ही इतने महत्त्वपूर्ण हैं, सभी दृष्टियों से—धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, साहित्य, आचार-व्यवहार, सामाजिक दिग्दर्शन, काव्यमाधुरी, भाषाओं का समागम, कि अनेक विद्वान् वर्षों तक इनका अध्ययन करें तो अनेक-अनेक शोध-ग्रन्थ तैयार हो जायें।

श्रुतज्ञ हमने कितनी बातों की चर्चा की। मन होता है कि इस चर्चा के समाहार में हम सब शिलालेखों में से एक-एक श्लोक का पाठ करें। पहले मैं पढ़ता हूँ—

नागसेनमनघ गुणाधिक नागनायकजितारिमण्डलम्।
राजपूज्यममलश्रीयास्पद कामद हतमदं नमाम्यहं॥

वाग्मी यद्वत्पदाम्बुजनतावनिपालमौलि-
रत्नांशवोऽनिशमनु विदधु सरागम्।
यद्वन्न वस्तु न वधूर्न च वस्त्रजात
नो यौवन न च बल न च भाग्यमिद्धम्॥

अनुगा श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलांछने।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

पुराविद् ससारवनमध्येऽस्मिन्नुंस्तदगान् जन-द्रुमान्।
आलोक्यालोक्य सद्वृत्तान् छिनत्ति यमतक्षकः॥

खण्ड : पाँच

श्रवणबेल्गोल : तीर्थवन्दना

1

स्मारक चतुष्टय

श्रवणबेल्गोल के परिवेश मे जो महत्वपूर्ण स्थान तथा मन्दिर और स्मारक हैं उनका विभाजन और वर्णन इन चार शीर्षको के अन्तर्गत हो सकता है

(1) चन्द्रगिरि पहाडी

(2) विन्ध्यगिरि पहाडी

(3) नगर-स्मारक

(4) आस-पास के ग्राम।

चारों स्थानो मे अनेक बसदियाँ (मन्दिर) हैं, स्मारक हैं, शिलालेख हैं, भव्य मूर्तियाँ हैं और वे गुफाएँ—कन्दराएँ हैं जहाँ सहस्रों मुनियो ने तपस्या की, सल्लेखना या समाधिमरण किया और अपने सयम का प्रभाव एव जन-कल्याण के लिए धर्मोपदेश तथा मोक्ष-साधना का प्रमाण प्रस्तुत किया। श्रवणबेल्गोल की ऐतिहासिक महत्ता विशेष रूप से इस तथ्य मे भी है, जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, कि वहाँ के इन स्मारको और शिलालेखो मे गुम्फित हैं उन राजा-रानियो, मन्त्रियों, सेनापतियो, श्रेष्ठियो और भक्त-जनो के नाम, जिनका सम्बन्ध कर्नाटक-इतिहास के गग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होय्सल आदि राजवशों से था। सयम, भक्ति और योगसाधना का तथा जैनधर्म के प्रवक्ता और साधक दिगम्बर जैन मुनियो का ऐसा जीवन्त एव प्रामाणिक इतिहास अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि श्रवणबेल्गोल को पवित्रता और सास्कृतिक भव्यता के प्रतीक-रूप मे 'जैन काशी' या 'जैन बद्री' का नाम दिया गया है।

1 चन्द्रगिरि

चन्द्रगिरि का प्राचीन नाम कटवप्र (सस्कृत) और कल्बप्पु (कन्नड) है। लोक-भाषा मे उसे तीर्थगिरि और ऋषिगिरि भी कहते हैं।

चन्द्रगिरि समुद्र तल से 3053 फुट ऊँची है। नीचे के मैदान से यह मात्र

75 फुट की ऊँचाई पर है। विन्ध्यगिरि की अपेक्षा यह पहाड़ी 274 फुट नीची है।

तीर्थयात्रा के पवित्र संकल्प से जब हम चन्द्रगिरि की प्रदक्षिणा करने के लिए निकलते हैं तो प्रदक्षिणा का अर्थ है उन 12 बसदियों (मन्दिरों) के दर्शन जो दीवार के 500 फुट लम्बाई और 225 फुट चौड़ाई के एक घेरे में प्रतिष्ठित हैं।

पार्श्वनाथ बसदि

सबसे पहले हमे पार्श्वनाथ बसदि (मन्दिर) के दर्शन होते हैं। यह मन्दिर दक्षिण की द्राविडी शैली मे निर्मित है।

निर्माण की द्राविडी शैली का अर्थ है, स्थापत्य की एक विशेष शैली जिसमे निर्माण के कुछ अग स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे,

गर्भगृह—जिसमें तीर्थंकर की मूर्ति मूलनायक प्रतिमा के रूप मे प्रतिष्ठित होती है। गर्भगृह के अतिरिक्त कुछ अन्य पारिभाषिक शब्द जो इन मन्दिरों की बनावट का वर्णन करते हुए प्राय: प्रयोग मे आते हैं, ये हैं :

सुखनासि या शुकनासिका—शिखर के सामने वाले भाग से जुडा हुआ बाहर निकला भाग जिसमे कभी-कभी मन्दिर के गवाक्ष या झरोखो का भी प्रबन्ध होता है।

मुखमण्डप—सामने का या प्रवेशद्वार का मण्डप।

नवरग—वह महामण्डप जिसमें बीच मे चार और बारह स्तम्भो की ऐसी सयोजना होती है कि उससे नौ खाँचे बन जाते है।

रगमण्डप—स्तम्भो पर आधारित मण्डप जो चारो ओर से खुला हुआ होता है। इसे सभा-मण्डप भी कहते हैं।

पार्श्वनाथ बसदि की लम्बाई 59 फीट और चौडाई 29 फीट है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, मन्दिर की मुख्य मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है। यह 15 फुट ऊँची है और इसके मस्तक पर सात फणों वाले नाग की छाया है। मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। मन्दिर के सामने बहुत बडा मानस्तम्भ है जिसके चारों मुखो पर यक्ष और यक्षियों की मूर्तियाँ खुदी हैं। नवरग मे जो लेख खुदा हुआ है उससे मालूम होता है कि मानस्तम्भ का निर्माण एक पुट्टैय सेठ द्वारा शक सवत् 1672 के आस-पास हुआ होगा। नवरग मे एक विशाल लेख (क 77) खुदा है जो शक संवत् 1050 का है जिसमे मल्लिषेण मलधारि देव के समाधिमरण का सवाद है।

कत्तले बसदि

कन्नड मे कत्तले का अर्थ है अँधेरा। मन्दिर मे पहले प्राय अँधेरा ही रहता था। मन्दिर विशाल है—लम्बाई-चौडाई 124 × 40 फुट। मन्दिर पर शिखर नहीं है किन्तु लगता है कि पहले शिखर था जो मन्दिर के खुदे हुए मानचित्र में दिखाया

12 चन्द्रगिरि का विहंगम दृश्य
[भा० पु० स०, नई दिल्ली]
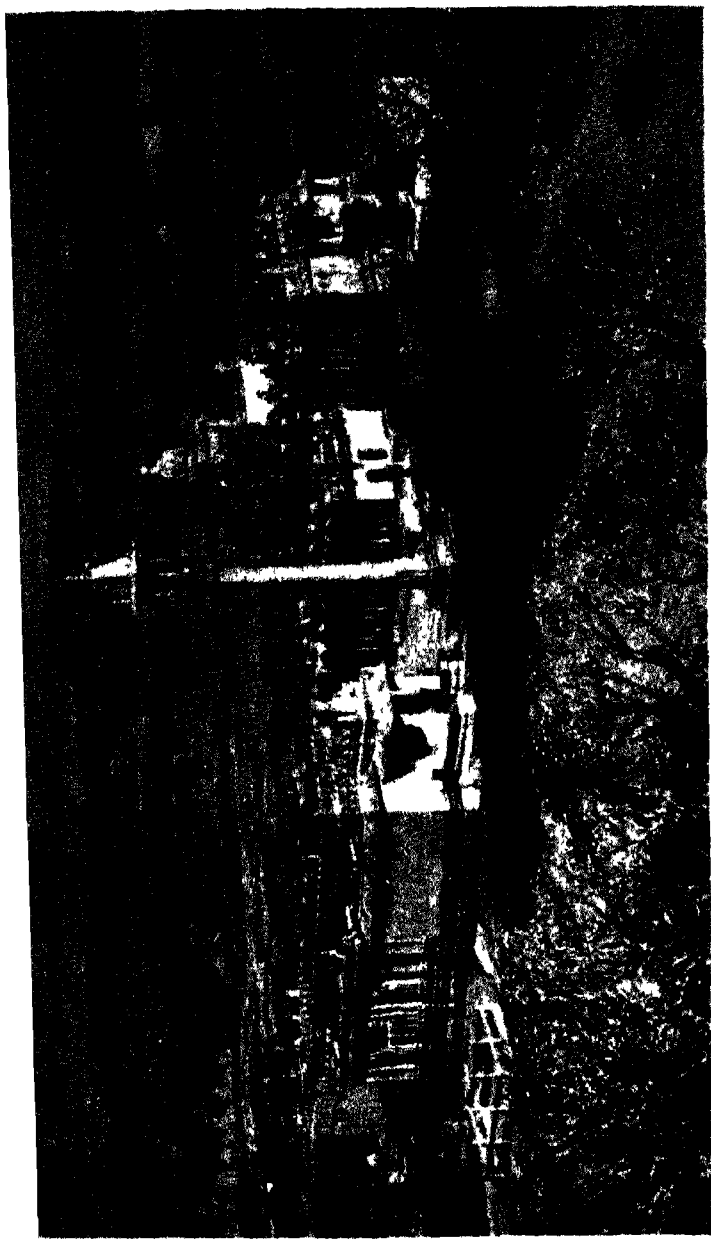
13 चन्द्रगिरि पर कतिपय देवालय तथा प्राकृतिक पृष्ठभूमि
[भा० पु० स०, नई दिल्ली]
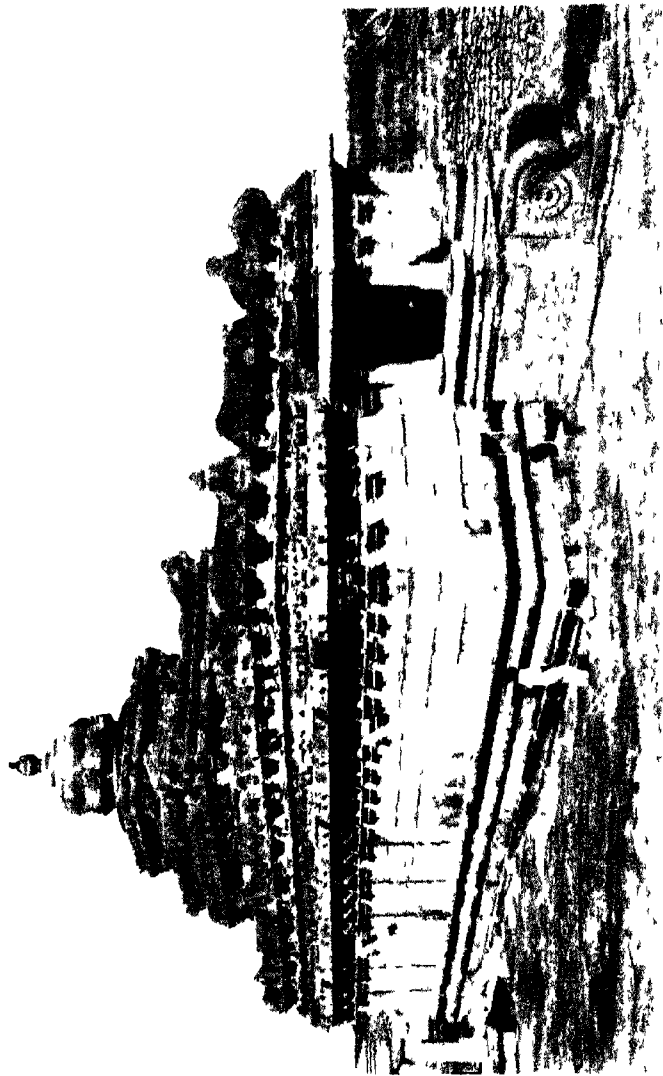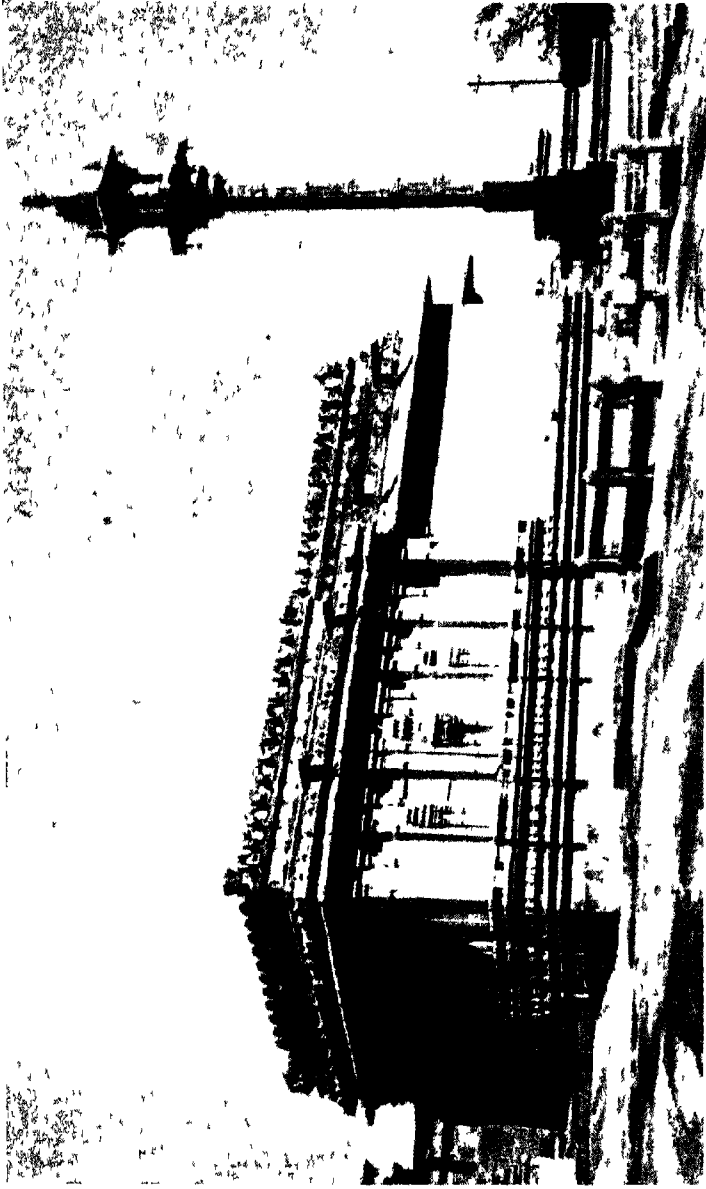
14 चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय बसदि

[भा० पु० स०, मैसूर]

15 चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि और मानस्तम्भ

16 चन्द्रगिरि पर श्रुतकेवली भद्रबाहु के चरणचिह्न

17 सर्वाह्ण यक्ष (चामुण्डराय बसदि)

गया है। इस विशाल भवन में कहीं कोई खिड़की नहीं, कोई दरवाजा नहीं। ऊपर से चारों ओर ऊँची दीवार है जो प्रकाश रोकती है। मन्दिर की मुख्य मूर्ति तीर्थंकर आदिनाथ की है, छह फुट ऊँची पद्मासन, मनमोहक। इसके दोनों ओर चौरीवाहक हैं। केवल यही एक मन्दिर है जिसके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। 1118 ई० के एक लेख (क्र० 80) से स्पष्ट है कि इस मन्दिर का निर्माण होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने अपनी माता पोचब्बे के हेतु कराया था। महिलाओं की भक्ति की गाथा इस मन्दिर के साथ जुड़ी हुई है। एक तो पोचब्बे की भक्ति-भावना मन्दिर के निर्माण का प्रमुख कारण थी; साथ ही, सौ वर्ष बाद अन्य दो महिलाओं—देवी रुक्मिणी और केम्पम्मणि ने इसका जीर्णोद्धार कराया था।

चन्द्रगुप्त बसदि

यह मन्दिर स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित बताया जाता है। यह चन्द्रगिरि का सबसे छोटा जिनालय है। इसके तीन कोठों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ, पद्मावती और कूष्माण्डिनी की मूर्तियाँ हैं। बीच के कोठे के सामने सभाभवन है जिसमें क्षेत्रपाल की मूर्ति है। बरामदे के दायें छोर पर धरणेन्द्र यक्ष और बायें छोर पर सर्वाह्ण यक्ष निर्मित है। बरामदे के सामने जो दरवाजा है, उसका कला-कौशल मनोहारी है।

चन्द्रगुप्त बसदि में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है, वह है मण्डप की दीवार पर उकेरा गया जाली का काम, जिसमें 90 फलक या चित्रखण्ड हैं। इन फलकों में श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के जीवन के दृश्य अंकित हैं। यह फलक-समूह अपूर्व कौशल का नमूना है। फलकों का वर्णन पहले आ ही चुका है। इस जाली पर कलाकार का नाम 'दासोज' लिखा है। मन्दिर के दोनों बाजुओं पर छोटे खुदावदार शिखर भी हैं।

शान्तिनाथ बसदि

इसकी लम्बाई-चौड़ाई 24 × 16 फुट है। इसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की 11 फुट ऊँची मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा है। किंवदन्ती है कि श्री रामचन्द्रजी अपने दल-बल के साथ जिन दिनों यहाँ विश्राम कर रहे थे उस समय मन्दोदरी ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी।

सुपार्श्वनाथ बसदि

इसका आकार 25 × 14 फुट है। इसमें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की तीन फुट ऊँची पद्मासन प्रतिमा है जो सप्तनागफणी की छाया में विराजमान है।

चन्द्रप्रभ बसदि

इस बसदि में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की तीन फुट ऊँची मूल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सुखनासि में तीर्थंकर के यक्ष-यक्षी श्याम और ज्वालामालिनी प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर के सामने की शिला पर लेख क्रमांक 140 में 'सिवमारन बसदि' अंकित है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण गंग-नरेश शिवमार द्वितीय (लगभग 800 ई०) ने कराया।

चामुण्डराय बसदि

विशाल भवन। आकार 69 × 36 फुट। बनावट और सजावट में चन्द्रगिरि पर सबसे सुन्दर। शिल्पकला का एक अनूठा नमूना। इसके ऊपर दूसरा खण्ड और एक गुम्मद भी है।

मन्दिर में तीर्थंकर नेमिनाथ की 5 फुट ऊँची, मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। गर्भगृह के दरवाजे पर बाजुओं में यक्ष सर्वाह्न और यक्षिणी कूष्माण्डिनी उत्कीर्ण हैं। इसकी बाहरी दीवारों, स्तम्भों, आलों में भी उकेरी हुई मूर्तियाँ हैं। बाहरी दरवाजे के दोनों बाजुओं पर नीचे की ओर लेख (क्र० 151) है—'श्री चामुण्डरायं माडिसिदं।' तदनुसार इसे स्वयं चामुण्डराय ने 982 ई० के आसपास बनवाया।

मन्दिर के ऊपर के खण्ड में पार्श्वनाथ की तीन प्रतिमाएँ हैं। सिंहासन पर लेख (क्र० 150) है कि चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव ने बेल्गोल में जिनमन्दिर का निर्माण कराया। अर्थात् यह खण्ड पीछे बना।

विशालता और कलात्मकता के साथ-साथ इस मन्दिर का अपना एक अन्य गौरव भी है। कहा जाता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इसी मन्दिर में बैठकर जैन सिद्धान्त के महान् ग्रन्थ 'गोम्मटसार' की रचना की थी।

शासन बसदि

इसका आकार 55 × 26 फुट है। शासन मन्दिर के दरवाजे पर एक लेख (क्र० 82) है। लेख को ही 'शासन' कहते हैं। इसी से इसका नाम शासन बसदि पड़ा। इसके गर्भगृह में आदिनाथ की 5 फुट ऊँची मूर्ति है। उसके दोनों ओर चौरीवाहक हैं। शुकनासिका में गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी हैं। बाहरी दीवारों में स्तम्भों और आलों की सजावट है। उनके बीच-बीच में प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। तीर्थंकर आदिनाथ के सिंहासन पर लेख (क्र० 84) है जिसका अभिप्राय है कि गंगराज सेनापति ने 'इन्दिरा कुलगृह' नाम से इसे बनवाया था।

मज्जिगण बसदि

इस मन्दिर का आकार 32 × 19 फुट है। सम्भवत किसी मज्जिगण नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण कराया था। इसमें तीर्थंकर अनन्तनाथ की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्ति है।

एरडुकट्टे बसदि

इसका अर्थ है—उभयवेदिका मन्दिर। सीढ़ियों के दोनों ओर दो चबूतरे हैं। इसी कारण इस बसदि का यह नाम पड गया। इसका आकार 55 × 26 फुट है। इसमे तीर्थंकर आदिनाथ की प्रभावलि से अलकृत 5 फुट ऊँची मूर्ति है। यहाँ पर उत्कीर्ण लेख (क्र० 160) के अनुसार, गगराज सेनापति की भार्या लक्ष्मी ने इस बसदि का निर्माण कराया।

सवतिगन्धवारण बसदि

सवतिगन्धवारण बसदि का अर्थ है—सौतो (सवति) के लिए मत्त हाथी। होयसल नरेश विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी का यह उपनाम है। मन्दिर विशाल है। आकार 69 × 35 फुट है। इसमे तीर्थंकर शान्तिनाथ की 5 फुट ऊँची मूर्ति है जिसके दोनो ओर चौरीवाहक हैं। शुकनासिका मे यक्ष किम्पुरुष और यक्षिणी महामानसी चित्रित हैं। सिंहासन पर लेख (क्र० 161) शक संवत् 1144 का है। शान्तलदेवी के सबध मे पहले लिखा जा चुका है।

तेरिन बसदि

सामने तेरु (रथ) के आकार का भवन है। आकार 70 × 26 फुट है। इसमे बाहुबली स्वामी की 5 फुट ऊँची मूर्ति है। सामने के नन्दीश्वर मन्दिर पर चारो ओर 52 जिनमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसके शक सवत् 1038 के लेख (क्र० 170) से ज्ञात होता है कि पोयसल सेठ की माता माचिकब्बे और नेमि सेठ की माता शान्तिकब्बे ने इसे बनवाया था।

शान्तीश्वर बसदि

इसका आकार 56 × 30 फुट का है। इसमे तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति है। यक्ष-यक्षी हैं। गुम्मट पर कारीगरी है। मन्दिर कुछ ऊँची सतह पर बना है।

कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ

चन्द्रगिरि पर्वत के घेरे के दक्षिणी दरवाजे पर प्रतिष्ठित यह एक विशाल

स्तम्भ है। इसके शिखर पर पूर्वमुखी ब्रह्मदेव की छोटी-सी पद्मासन मूर्ति है। स्तम्भ की पीठिका आठ दिशाओं मे आठ हाथियो पर आधारित थी। अब थोड़े से हाथी रह गये हैं। इसके चारो ओर लेख (क्र० 64) है, जो गंगनरेश मारसिंह द्वितीय की मृत्यु (974 ई०) का स्मारक है। इससे ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ इससे भी पहले बना होगा।

महानवमी मण्डप

चार स्तम्भो वाले दो मण्डप हैं। दोनो मण्डपो के मध्य मे स्थित एक स्तम्भ के लेख (क्रमांक 73) मे अंकित है कि यहाँ नयकीर्ति आचार्य का समाधिमरण हुआ और उनके श्रावक शिष्य नागदेव मन्त्री ने मण्डप का निर्माण करवाया।

ऐसे ही और भी अनेक मण्डप इस पर्वत पर विद्यमान हैं और उनमे लेखयुक्त स्तम्भ प्रतिष्ठित हैं।

भरतेश्वर

महानवमी मण्डप के पश्चिम की ओर एक भवन है। इसके समीप 9 फुट ऊँची मूर्ति है जो बाहुबली के भाई भरतेश्वर की बताई जाती है। एक भारी चट्टान मे यह मूर्ति घुटनों तक बनाई जाकर अपूर्ण छोड़ दी गई है। वर्तमान अवस्था मे यह समभग मुद्रा मे अवस्थित है। सभवत इसे चन्द्रगिरि पहाड़ी के पश्चिमी परिसर में पड़े हुए विशाल शिलाखण्ड को काटकर बनाया गया है। सम्बन्धित शिलालेख का कुछ भाग पढ़ा गया, जिससे अनुमान होता है कि इसे गुरु अरिष्टनेमि ने बनवाया था।

इरुवे ब्रह्मदेव मन्दिर

सारी पहाड़ी पर घेरे से बाहर केवल यही एक मन्दिर है। इसमे ब्रह्मदेव की मूर्ति है। इस मन्दिर के सामने एक बृहत् चट्टान है जिस पर जिन-प्रतिमाएँ, हाथी, स्तम्भ खुदे हुए हैं। खोदने वालों के नाम भी अंकित हैं। मन्दिर के दरवाजे पर लेख (क्र० 186) है जिसके अनुसार इस मन्दिर का निर्माण दसवीं शताब्दी में हुआ था।

एक विशेष अतिशय इस मन्दिर का यह प्रचलित है कि लोग यहाँ आकर दही द्वारा अभिषेक की मनौती पूरी करते हैं तो उनके घर से चींटियाँ चली जाती हैं।

कञ्चिन दोणे

'कञ्चिन' का अर्थ है 'कांसा', जिस धातु से घण्टा आदि बनाये जाते हैं और 'दोण' का अर्थ है—कुण्ड। किन्तु इसका आशय पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता है। यहाँ

चौकोर घेरे के भीतर चट्टान में एक कुण्ड है। कुण्ड के भीतर स्तम्भ है जिस पर लेख (क्र० 211) मे लिखा है—"मानभ आनन्द-संवच्छरद्लि कट्टिसिद दोणेयु" अर्थात् मानव ने आनन्द सवत्सर (शक संवत् 1116) में इसे बनवाया।

लक्कि दोणे

इसका अर्थ है लक्कि नामक महिला द्वारा निर्मित कुण्ड। कुण्ड से पश्चिम की ओर एक चट्टान है जिस पर 31 छोटे-छोटे लेख (क्रमांक 219 से 249) हैं जिनमें यात्रियो, आचार्यों, कवियो तथा राजपुरुषो के नाम अंकित हैं।

भद्रबाहु गुफा

अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यहाँ शरीर त्याग किया था। यहाँ पर उनके चरण अंकित हैं। एक लेख (क्र० 251) यहाँ पाया गया था, किन्तु अब वह यहाँ नही है। कहा जाता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य अपनी मुनि-अवस्था में यही पर तपश्चरण करते हुए आचार्य भद्रबाहु की उनके अन्तिम समय तक सेवा-सुश्रुषा करते रहे। यह भी मान्यता है कि लगातार 48 दिनो तक इन चरणो की पूजा करने से भक्त की मनोकामना पूरी हो जाती है।

चामुण्डराय की शिला

चन्द्रगिरि के नीचे एक चट्टान इस नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है, चामुण्डराय ने इसी शिला पर खडे होकर विन्ध्यगिरि पर सोने का बाण छोड़ा था, जिसके फलस्वरूप विश्ववन्द्य गोम्मटेश्वर मूर्ति का ऊपरी भाग प्रकट हुआ था। शिला पर कई जैन गुरुओ के आकार और उनके नाम भी उत्कीर्ण हैं।

2. विन्ध्यगिरि

विन्ध्यगिरि को 'दोड्ड बेट्ट' (बडी पहाडी) या 'इन्द्रगिरि' भी कहते हैं। यह समुद्रतल से 3347 फुट और नीचे मैदान से 470 फुट ऊँची है। शिखर पर पहुँचने के लिए 650 सीढ़ियाँ पत्थरो को काटकर बनाई गई हैं। ऊपर समतल चौक एक घेरे से घिरा है। घेरे में बीच-बीच मे तलघर हैं जिनमें जिन-प्रतिमाएँ विराजमान हैं। घेरे के चारो ओर कुछ दूरी पर भारी दीवार है जो कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाओं से बनी है। चौक के ठीक बीचों-बीच गोम्मटेश्वर की विशाल खड्गासन मूर्ति है जो अपनी दिव्यता से उस सारे भूभाग को अलंकृत कर रही है। गोम्मटेश्वर की इस विश्ववन्द्य प्रतिमा का वर्णन हम कर चुके हैं।

मूर्ति-विवरण एक लेख (क्र० 336) में दिया है। यह लेख एक छोटा-सा कन्नड़ काव्य है। यह 1180 ई० के लगभग बोप्पण कवि द्वारा रचा गया है।

गोम्मटेश्वर मूर्ति के दोनो बाजुओ पर यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ हैं जिनके एक हाथ मे चौरी और दूसरे मे कोई फल है। गोम्मटेश्वर मूर्ति की बायीं ओर गोल पाषाण का पात्र है जिसमे मूर्ति के अभिषेक का जल एकत्र होता है। इस पर 'ललित सरोवर' नाम खुदा है। पाषाण-पात्र भर जाने पर अभिषेक का जल एक नाली द्वारा मूर्ति के सम्मुख कुएँ मे पहुँचता है, वहाँ से मन्दिर की सरहद के बाहर 'गुल्लकायज्जि बागिलु' नाम कन्दरा में पहुँचा दिया जाता है। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप सुन्दर खचित नव छत्रो से सजा हुआ है। आठ छत्रो पर अष्ट दिक्पाल की मूर्तियाँ हैं। बीच की नौवी छत पर गोम्मटेश्वर के अभिषेक के लिए हाथ मे कलश लिये इन्द्र की मूर्ति है। इसकी छत में उत्कीर्ण शिलालेख क्र० 322 से अनुमान होता है कि बलदेव मन्त्री ने 12वी शताब्दी के प्रारम्भ में यह मण्डप, और लेख क्र० 373 के अनुसार सेनापति भरतमय्य ने इस मण्डप का कठघरा (हुप्पलिगे) निर्माण कराया था।

और भी अनेक लेख हैं जिनसे पता चलता है कि कठघरे की दीवार और चौबीस तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य बसविसेट्टि ने निर्माण करायी तथा उनके पुत्रो ने प्रतिमाओ के सम्मुख जालीदार खिडकियाँ बनवायी। इसी प्रकार चगाल्वनरेश महादेव के प्रधान सचिव केशवनाथ के पुत्र चन्न बोम्मरस और नजरायपट्टन के श्रावको ने गोम्मटेश्वर-मण्डप के ऊपर के खण्ड का जीर्णोद्धार कराया।

परकोटा

इसका निर्माण होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गगराज ने शक स० 1039 के आसपास कराया। यह विवरण लेख क्र० 276, 272-74, 154, 158, 342, 547 मे मिलता है। परकोटे के भीतर मण्डपो मे अगल-बगल 43 जिनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। अधिकांश मूर्तियाँ चार फुट ऊँची हैं। इनमे पद्मप्रभु तीर्थंकर की मूर्ति नही है। एक अज्ञात मूर्ति डेढ फुट ऊँची है। परकोटे के द्वार के दोनो बाजुओ पर छह-छह फुट ऊँचे द्वारपाल हैं। परकोटे की दीवार पर तीन ओर देवी-देवताओ और पशु-पक्षियो के विविध मुद्राओ मे ऐसे अद्भुत और मनोवैज्ञानिक चित्र उकेरे गये हैं कि सारी प्रकृति मानव की सहचरी हो गई है।

गोम्मटेश्वर देव के ठीक सामने छह फुट ऊँचाई पर ब्रह्मदेव स्तम्भ है। यहाँ ब्रह्मदेव की पद्मासन मूर्ति है। स्तम्भ के नीचे पाँच फुट ऊँची गुल्लकायज्जी की मूर्ति है जिसके हाथ मे गुल्लकायि (फल) है। यह स्तम्भ और मूर्ति स्वय चामुण्डराय द्वारा निर्मित बताई जाती है।

सिद्धर बसदि

यह छोटा-सा मन्दिर है। इसमें सिद्ध भगवान की 3 फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर 6-6 खचित कलात्मक स्तम्भ हैं। दायीं ओर के स्तम्भ पर अर्हद्दास कवि का पण्डितार्य की प्रशस्ति वाला लेख (क्र० 360) है। इस स्तम्भ में पीठिका पर विराजमान एक आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देते दिखाए गए हैं। दूसरे चित्र में जिनमूर्ति उत्कीर्ण है।

अखण्ड बागिलु

यह द्वार का नाम है। पूरा दरवाजा अखण्ड शिला को काटकर बनाया गया है। द्वार के ऊपरी भाग मे लक्ष्मी की पद्मासन मूर्ति का दोनो ओर से हाथी अभिषेक कर रहे हैं। दरवाजे की दायी ओर बाहुबली और बायीं ओर भरत की मूर्तियाँ हैं जो दण्डनायक भरतेश्वर द्वारा शक सवत् 1052 के आसपास प्रतिष्ठित की गई थी।

सिद्धरगुण्डु

यह एक शिला है जिस पर अनेक लेख हैं। ऊपरी भाग की कई पंक्तियो मे जैनाचार्यों के चित्र हैं, उनके नाम भी हैं। भरत-बाहुबली, उनके निन्यानबे भाई तथा ब्राह्मी और सुन्दरी की मूर्तियाँ भी यहाँ दर्शायी गई हैं।

गुल्लिकायज्जि बागिलु

यह दूसरे द्वार का नाम है। द्वार के दाहिनी ओर एक शिला पर एक स्त्री बैठी है जिसका चित्र भी खुदा है। सम्भवतया इसे गलत नाम दे दिया गया है। लेख (क्र० 358) के अनुसार यह मल्लिसेट्टि की पुत्री का चित्र होना चाहिये।

त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ

यह 'चागद कम्ब' भी कहलाता है। यहाँ दान दिया जाता था अत त्यागद नाम पड़ा। अद्भुत शिल्प है इस स्तम्भ का। यह मानो अधर में स्थित है और इसके नीचे से रुमाल निकाला जा सकता है। स्तम्भ के एक कोने का अश मात्र पीठिका का स्पर्श करता है। लेख क्र० 388 के अनुसार यह चामुण्डराय द्वारा स्थापित है। लेख मे उनके प्रताप का वर्णन है। यह लेख पूरा नहीं मिलता। पूरा होता तो बहुत से तथ्य प्रमाणित रूप से विदित हो जाते। शायद हेग्गडे कण्न ने अपना छोटा-सा लेख (क्र० 389) लिखाने के लिए चामुण्डराय का लेख घिसवा डाला। यह तथ्य बड़ा दारुण है।

स्तम्भ की पीठिका के दक्षिण बाजू पर दो मूर्तियाँ खुदी हैं। एक मूर्ति, जिसके दोनों ओर चवरवाही खड़े हुए हैं, चामुण्डराय की है और सामने वाली मूर्ति उनके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कही जाती है।

चेन्नण्ण बसदि

इसमें चन्द्रप्रभु की ढाई फुट ऊँची मूर्ति है। बसदि के सामने मानस्तम्भ है। लेख क्र० 540 के अनुसार इसे चेन्नण्ण और उसकी धर्मपत्नी ने शक संवत् 1596 में बनवाया था। इस दम्पती की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। यह बसदि त्यागद स्तम्भ की पश्चिम दिशा में है।

ओदेगल बसदि

इसे त्रिकूट बसदि भी कहते हैं, क्योंकि इसमे तीन गर्भगृह हैं। मन्दिर ऊँची सतह पर है, सीढ़ियो से जाना पड़ता है। ओदेगल से तात्पर्य है कि पाषाणो का आधार देकर इस बसदि की दीवारों को मजबूत किया गया है। तीन गुफाओ मे पद्मासन तीन मूर्तियाँ—तीर्थंकर नेमिनाथ, आदिनाथ और शान्तिनाथ की हैं। पश्चिम की ओर चट्टान पर नागरी अक्षरो मे 27 लेख (क्र० 391-417) उत्कीर्ण हैं जिसमे अधिकतर तीर्थयात्रियो के नाम हैं। बीच मे पत्थर का कमल निर्मित है।

चौबीस तीर्थंकर बसदि

यह छोटा-सा देवालय है। यहाँ डेढ फुट ऊँचे एक पाषाण पर चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। नीचे एक पंक्ति मे तीन बड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। लेख क्र० 422 के अनुसार चौबीसी की स्थापना चारुकीर्ति पण्डित धर्मचन्द्र आदि द्वारा शक संवत् 1570 मे कराई गई थी।

ब्रह्मदेव मन्दिर

विन्ध्यगिरि की नीचे की सीढ़ियो के पास एक छोटा-सा मन्दिर है। इसमे सिन्दूर से रगा हुआ एक पाषाण है जिसको लोग 'जारुगुप्पे अप्प' या 'ब्रह्म' कहते हैं। लेख क्र० 439 के अनुसार शक संवत् 1600 में इसका निर्माण हिरिसालि निवासी गिरिगौड के छोटे भाई रंगय्य ने कराया था।

3 नगर-स्मारक

भण्डारि बसदि

यह नगर का सबसे बड़ा मन्दिर है। इसका आकार 266×58 फुट है।

होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के भण्डारि हुल्ल ने इसका निर्माण कराया था। गर्भ-गृह में सुन्दर चित्रमय वेदी पर चौबीस तीर्थंकरो की तीन-तीम फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। तीन दरवाजों पर जालियाँ बनी हैं। सुखनासि में पद्मावती और ब्रह्म की मूर्तियाँ हैं। नवरंग के चार खम्भों के बीच जमीन पर 10 फुट के चौकोर पत्थर जड़े हैं। आगे के भाग और बरामदे में भी इतने बड़े पत्थर लगे हुए हैं। ये भारी-भारी पत्थर कैसे लाये गये, देखकर आश्चर्य होता है। नवरंग की चित्रकारी मे सुन्दर लताएँ, मनुष्य, पशु उत्कीर्ण है। बरामदा मुख्य भवन के चारों ओर है। मन्दिर के सामने मानस्तम्भ है। शक संवत् 1081 के लेख (क्र० 476) मे मन्दिर के निर्माता हुल्ल और मन्दिर का वर्णन है।

अक्कन बसदि

होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के ब्राह्मण मन्त्री चन्द्रमौलि की जैन धर्मावलम्बिनी भार्या आचियक्क ने शक संवत् 1103 मे इस मन्दिर का निर्माण कराया, यह इसके लेख क्र० 444 से ज्ञात होता है। गर्भगृह मे फणावलि सहित पार्श्वनाथ की 5 फुट ऊँची भव्य मूर्ति है। सुखनासि मे आमने-सामने पंचफणी धरणेन्द्र तथा पद्मावती की साढे तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ है। द्वार के आस-पास जालियाँ हैं। नवरंग के काले पाषाण के, आइने के सदृश चमकीले, चार स्तम्भ और कुशल कारीगरी-पूर्ण नवछत्र हैं। गुम्मट मे अनेक जिनमूर्तियाँ चित्रित हैं। शिखर पर सिंह-ललाट है। यह होयसल कला का अनुपम नमूना है।

सिद्धान्त बसदि

कहा जाता है कि जैन वाङ्मय की निधि सिद्धान्त-ग्रन्थ यहाँ एक बन्द कमरे मे सुरक्षित रखे जाते थे। यहाँ से ही ये धवल, महाधवल, आदि ग्रन्थ मूडबिद्री गये हैं। मन्दिर के बीच में पार्श्वनाथ-मूर्ति है। उसके आस-पास शेष 23 तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। लेख क्र० 454 से ज्ञात होता है कि शक संवत् 1620 में उत्तर भारत के किसी यात्री द्वारा यह चतुर्विंशति तीर्थंकर-मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी।

दानशाले बसदि

यह छोटा-सा देवालय है। इसमे तीन फुट ऊँचे पाषाण पर पंचपरमेष्ठी की प्रतिमाएँ हैं। जैसा कि नाम से ज्ञात होता है पहले यहाँ दान दिया जाता रहा होगा। इस बसदि के लिए मदनेय नामक ग्राम दान मे दिये जाने का उल्लेख भी मिलता है।

नगर जिनालय

यह नगर के महाजनो के द्वारा रक्षित था। इसका एक अन्य नाम 'श्री-निलय' भी रहा आया। इसमे आदिनाथ की ढाई फुट ऊँची मूर्ति है। नवरंग के बाई ओर एक गुफा मे ब्रह्मदेव की दो फुट ऊँची मूर्ति है जिसके दायें हाथ मे फल और बायें हाथ मे कोडे जैसी कोई वस्तु है। उसके पैरों मे खडाऊँ हैं। पीठिका पर घोडे का चिह्न है। लेख क० 457 के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण नागदेव मन्त्री के द्वारा शक सवत् 1118 मे हुआ था। इस लेख मे गुरु नयकीर्तिदेव की निषद्या तथा 'नृत्यरग' और 'अश्मकुट्टिम' (पाषाण-भूमि) के निर्माण का उल्लेख भी है।

मगायि बसदि

त्रिभुवनचूडामणि मगायि ने इस मन्दिर का निर्माण कराया था। इसमें शान्तिनाथ की साढे चार फुट ऊँची मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा विजयनगर देवराय महाराज की रानी भीमादेवी ने करायी थी। नवरंग में वर्धमान स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठापना पण्डित देव की शिष्या वसतायि द्वारा हुई थी। मन्दिर के सम्मुख दो सुन्दर हाथी बने हैं।

जैन मठ

यह म्वरित श्री भट्टारक स्वामी का निवास-स्थान है। इसमे एक सुन्दर खुला आँगन है। मण्डप-स्तम्भो पर चित्रकारी है। तीन गर्भगृहो मे पाषाण और धातु की अनेक प्रतिमाएँ हैं।

कुछ मूर्तियाँ बहुत अर्वाचीन हैं जिन पर संस्कृत व तमिल भाषा के लेख हैं। ये ग्रन्थ-लिपि मे लिखे है। अधिकाश मूर्तियाँ तमिलनाडु के जैन बन्धुओ द्वारा प्रतिष्ठित हैं। नवदेवता बिम्ब मे पचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, चैत्य, चैत्यालय आदि चित्रित हैं। मठ की दीवारो पर तीर्थंकरों और जैन राजाओ के जीवन-चित्र, दशहरा-दरबार का चित्रण, पार्श्वनाथ का समवसरण, भरत और चक्रवर्ती के जीवन-चित्र, नागकुमार के जीवन-वृतान्त और वन-दृश्य मे षड्लेश्याओ का चित्रण आकर्षक हैं।

ऊपर की मजिल मे पार्श्वनाथ मूर्ति है। काले पाषाण पर चौबीस तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं। चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापना के उपरान्त अपने गुरु नेमिचन्द्र को यहाँ मठाधीश नियुक्त किया था। वैसे यह गुरु-परम्परा और भी पहले से चली आ रही थी। लेख क० 360 तथा 364 के अनुसार यहाँ पर आसीन गुरु चारुकीर्ति पण्डित ने होयसल नरेश बल्लाल प्रथम (1100-1106) को व्याधि-मुक्त करके 'बल्लाल-जीवरक्षक' की उपाधि प्राप्त की थी।

कल्याणी सरोवर

यह नगर के बीच मे है। इसके चारों ओर सीढ़ियाँ और शिखरबद्ध दीवार है। एक सभा-मण्डप है। उसके एक स्तम्भ पर लेख (क्र० 501) है जिसके अनुसार इस सरोवर को चिक्कदेव राजेन्द्र ने बनवाया था। यह वही सरोवर है जिसके नाम पर बेल्गोल का नामकरण हुआ। एक समय सरोवर के चारों ओर प्राकृतिक सुषमा का विस्तार था। किन्ही अर्थों मे आज भी है। अब नयी निर्माण-पद्धतियों द्वारा इस सरोवर का परिष्कार किया गया है।

जक्कि कट्टे

यह दूसरा सरोवर है। पास की दो चट्टानो पर जैन मूर्तियो के लेख (क्र० 503-504) से ज्ञात होता है कि बोप्पदेव की माता, गगराज के बडे भाई की पत्नी, शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या जक्किमब्बे ने इन मूर्तियो और इस सरोवर का निर्माण कराया था।

चेन्नण्ण कुण्ड

चेन्नण्ण कुण्ड के निर्माता वही चेन्नण्ण हैं जिनकी कृतियो का उल्लेख अनेक शिलालेखो मे है। लेख क्र० 480 से ज्ञात होता है कि इस कुण्ड का निर्माण शक सवत् 1595 के आस-पास हुआ था।

4 आसपास के ग्राम

जिननाथपुर शान्तिनाथ बसदि

नगर से उत्तर की ओर यह एक मील दूरी पर है। लेख क्र० 538 के अनुसार होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गगराज ने शक सवत् 1040 के आसपास इसे बसाया था। मैसूर राज्य के समस्त मन्दिरों मे सबसे अधिक आभूषित है यह बसदि, और है यह होयसल शिल्पकारी का सबसे सुन्दर नमूना। इसमे शान्तिनाथ भगवान की साढे पाँच फुट ऊँची भव्य एव दर्शनीय मूर्ति है। यह प्रभावली से और दोनों ओर चमरवाहियो से सुसज्जित है। नवरग के चार स्तम्भ मूगे की कारीगरी के नमूने हैं। सुन्दर नवछत है तथा बाहरी दीवारी पर तीर्थंकर, यक्ष, यक्षी, ब्रह्म, सरस्वती, मन्मथ, मोहिनी, नृत्यकारिणी, गायक, वादित्रवाही आदि के चित्र हैं। इसका लेख (क्र० 526) शक संवत् 1120 (जीर्णोद्धार 1553 में) इस मन्दिर का निर्माण-काल दर्शाता है। तदनुसार इस मन्दिर को 'वसुधैकबान्धव' रेचिमय्य सेनापति ने बनवाकर सागरनन्दि सिद्धान्तदेव के अधिकार में दे दिया था। रेचिमय्य

कलचुरिनरेश के मन्त्री थे। बाद में उन्होंने होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय (1173-1220) का आश्रय ले लिया था।

जिननाथपुर : अरेगल्लु बसदि

यह अरेगल्लु (चट्टान) पर स्थित है। शान्तिनाथ मन्दिर से भी यह पुराना है। इसमे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की 5 फुट ऊँची पद्मासन मूर्ति है। सुखनासि में धरणेन्द्र पद्मावती के सुन्दर चित्र हैं। मूर्ति की पीठिका पर के लेख (क्र० 530) से ज्ञात होता है कि शक संवत् 1812 में इसे बेल्गुल के मुजबलेय्य ने प्रतिष्ठित कराया था। यहाँ की प्राचीन मूर्ति बहुत खण्डित हो गई थी जो आज भी पास के तालाब मे पड़ी है। उसका छत्र मन्दिर के द्वार के पास रखा है। इस मन्दिर की अन्य मूर्तियाँ 24 तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी, नवदेवता, नन्दीश्वर आदि धातु-निर्मित हैं।

समाधि-मण्डप

यहाँ गाँव में एक समाधि-मण्डप है जिसे 'शिलाकूट' कहते हैं। यह 4 × 4 फुट का है। ऊँचाई 5 फुट है। ऊपर शिखर है। चारो ओर द्वारहीन दीवारें हैं। इसके लेख क्र० 539 से ज्ञात होता है कि यह बालचन्द देव के पुत्र (मृत्यु शक संवत् 1136) की निषद्या है। कालब्बे नामक एक साध्वी स्त्री द्वारा भी यहाँ सल्लेखना-विधि से शरीर-त्याग किये जाने का उल्लेख है।

ऐसा एक समाधि मण्डप तावरेकेरे सरोवार के समीप भी है। लेख क्र० 497 के अनुसार यह चारुकीर्ति पण्डित की निषद्या है जिनकी मृत्यु शक संवत् 1565 मे हुई।

जिननाथपुर मे एक दानशाला भी थी जिसे लेख क्र० 71 के अनुसार देवकीर्ति पण्डित (मृत्यु : शक संवत् 1085) ने इसे बनवाया था।

हलेबेल्गोल

यह श्रवणबेलगोल से 4 मील उत्तर की ओर है। यहाँ का जैन मन्दिर होयसल शिल्पकारी का नमूना है। यह अब ध्वस अवस्था मे है। गर्भगृह में ढाई फुट ऊँची खड्गासन मूर्ति है। सुखनासि मे 5 फुट ऊँची सप्तफणी पार्श्वनाथ की खण्डित मूर्ति है। नवरंग मे अच्छी चित्रकारी है। बीच की छत पर देवियो सहित रथारूढ अष्ट-दिक्पालो के चित्र अंकित हैं। बीच में धरणेन्द्र का सप्तफणी चित्र है जिसके बायें हाथ मे धनुष और दाहिने हाथ मे सम्भवत. शंख है। द्वार पर आकर्षक कारीगरी हैं। इसके लेख (क्र० 568) से ज्ञात होता है कि विष्णुवर्धन के पिता होयसल एरेयंग ने गुरु गोपनन्दि को बेल्गोल के मन्दिरो के जीर्णोद्धार के
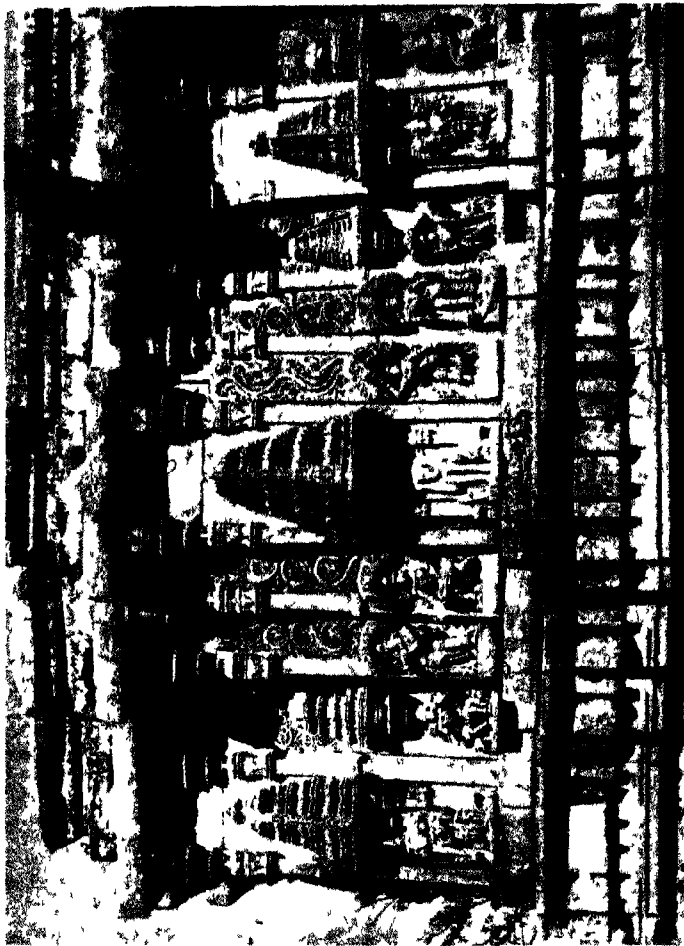
18 जिननाथपुर मे शान्तिनाथ मन्दिर की बाह्य-भित्ति का कलावैभव

के लिए रावनहुल्ल ग्राम का दान दिया था। मन्दिर का निर्माण-काल 1016 है। इस ग्राम में एक शैव और एक वैष्णव मन्दिर भी है। यहाँ के तालाब की नहर में टूटे हुए मन्दिरों का मसाला लगाया गया है। यह इस बात का संकेत करता है कि यहाँ और अधिक मन्दिर रहे होंगे।

ग्राम साणेहल्लि

यह श्रवणबेलगोल से 3 मील दूर है। यहाँ एक ध्वस्त जैन मन्दिर है। लेख क्र० 550 के अनुसार इसे गगराज की भावज जक्किमब्बे ने बनवाया था। (संदर्भ ऊपर भी आ चुका है।)

कम्बदहल्ली

श्रवणबेलगोल से यह स्थान 11 मील दूर है। यहाँ एक कलापूर्ण स्तम्भ है जिसके ऊपर ब्रह्मयक्ष की मूर्ति है। इसके समीप ही सात पाषाण-निर्मित जैन मन्दिर हैं। यहाँ के एक शान्तिनाथ मन्दिर मे तीर्थंकर शान्तिनाथ की 12 फुट उत्तुंग मनोज्ञ मूर्ति है। सेनापति गगराज के पुत्र बोप्पण ने इसका निर्माण कराया था। कम्बदहली का शिल्प और कलाकौशल इतना अद्भुत है कि जिसे देखकर आज का कलाकार या स्थपति चकित-सा रह जाता है।

बाहुबली-मूर्तियो की परम्परा

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय ने भगवान् बाहुबली की विश्व-वन्द्य मूर्ति की प्रतिष्ठापना करके जिस विशालता, भव्यता और वीतरागता को अलौकिक कला मे रूपान्तरित किया, उसने आगे की शताब्दियो के श्रीमन्तो और कलावन्तो को इतना अधिक प्रभावित किया कि बाहुबली की विशाल मूर्ति का नव-निर्माण उनके जीवन की साध बन गयी। बाहुबली यद्यपि तीर्थंकर नही थे, किन्तु उपासको ने उन्हे तीर्थंकर के समकक्ष पद दिया। ऐसा ही अनुपम रहा है उनका कृतित्व जिसे हम पिछले अध्यायो मे देख चुके हैं। कर्नाटक मे जन-सामान्य के लिए तो वह मात्र देवता हैं—तीर्थंकर, जिन, कामदेव के नामो और उपाधियो से परे।

दक्षिण कर्नाटक मे, मूडबिद्रि से उत्तर मे 15 कि० मी० की दूरी पर स्थित कारकल मे सन् 1432 मे लगभग 41-1/2 फुट ऊँची प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई जिसे राजपुरुष वीरपांड्य ने जैनाचार्य ललितकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित कराया।

एक मूर्ति मूडबिद्री से लगभग 12 मील दूर वेणूर मे चामुण्डवशीय तिम्मराज ने सन् 1604 मे स्थापित की, जिसकी ऊँचाई 35 फुट है। इसके प्रेरणास्रोत भी चारुकीर्ति पण्डित माने जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले मैसूर के पास वाले एक घने उजाड़ स्थान के ऊँचे टीले का उत्खनन करने पर बाहुबली की 18 फुट ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई थी। अब उस स्थान को 'गोम्मटगिरि' कहा जाता है।

कर्नाटक के बीजापुर जिले के बादामि पर्वत-शिखर के उत्तरी ढाल पर जो चार शैलोत्कीर्ण जैन गुहा-मन्दिर हैं उनमे से चौथे गुहा-मन्दिर के मण्डप में कोने के एक देव-प्रकोष्ठ मे विभिन्न तीर्थंकर-मूर्तियो के मध्य उत्कीर्ण मूर्ति सर्वप्रमु बाहुबलि की मूर्ति है। इस 7 फुट 6 इच ऊँची मूर्ति की केश-सज्जा भी दर्शनीय है जिसकी परम्परा दसवीं शती मे श्रवणबेल्गोल की महामूर्ति मे ऊर्णा अर्थात् घुघराले केशों के रूप मे परिणत हुई।

बादामि-बाहुबली की केश-सज्जा की परम्परा आठवी-नौवी शती की उस मूर्ति मे विद्यमान है जो बाहुबली की प्रथम कांस्य-मूर्ति है। लगभग डेढ़ फुट ऊँचे

आकार की यह मूर्ति मूलतः श्रवणबेल्गोल की है और अब प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में (क्रमांक 105) प्रदर्शित है। इसका वर्तुलाकार पादपीठ अनुपात में इससे कुछ बड़ा है और अब इससे टूट कर अलग हो गया है। स्कन्ध कुछ अधिक चौडे हैं किन्तु शरीर का शेष भाग उचित अनुपात मे है। मुख-मण्डल अण्डाकार है, कपोल पुष्ट हैं और नासिका उन्नत है। ओष्ठ और भौंहे उभरी होने से अधिक आकर्षक बन पड़ी हैं। केश-राशि पीछे की ओर काढी गयी है किन्तु अनेक घुंघराली जटाएँ कन्धो पर लहराती दिखायी गयी हैं। लताएँ उनके पैरों से होकर हाथो तक ही पहुँची हैं। कालक्रम से यह द्वितीय मानी जा सकती है।

कालक्रम से तृतीय बाहुबलि-मूर्ति ऐहोल के इन्द्रसभा नामक बत्तीसवें गुहा-मन्दिर की अर्द्ध-निर्मित वीथि मे उत्कीर्ण है। बीजापुर जिले के इस राष्ट्रकूट-कालीन केन्द्र का निर्माण आठवी-नौवी शती मे हुआ था। इसी गुहा मन्दिर में नौवीं-दसवीं शती मे जो विविध चित्राकन प्रस्तुत किए गए उनमे से एक बाहुबली का भी है। बाहुबली का इस रूप मे यह प्रथम और संभवत अन्तिम चित्रांकन है।

कर्नाटक में गोलकुण्डा के खजाना बिल्डिग संग्राहलय मे प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति काले बेसाल्ट पाषण की है। 1 73 मीटर ऊँची यह मूर्ति कदाचित् दसवी शती की है।

पत्तनचेरुवु से प्राप्त और राज्य सग्राहलय हैदराबाद मे प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति राष्ट्रकूट कला का अच्छा उदाहरण है। इसमे लताएँ कन्धो से भी ऊपर मस्तक के दोनो ओर पहुँच गयी हैं। दोनो ओर अकित एक-एक लघु युवती-आकृति का एक हाथ लता को अलग कर रहा हैं और दूसरा कटि तक अवलम्बित मुद्रा मे है। बारहवी शती की यह मूर्ति कई दृष्टियो से उल्लेखनीय है। श्रीवत्स लांछन होने से यह उत्तर और दक्षिण की शृखला जोडती है; ऊपर स्वस्तिक और कमलाकृति प्रभामण्डल है जो अन्य बाहुबलि-मूर्तियो मे प्राय अप्राप्य है। कटि की त्रिवलि ने समूची मूर्ति के अनुपात को सन्तुलित किया है।

बादामी तालुके मे ही एक गाँव है ऐहोल, जिसके पास गुफाएँ हैं। गुफाओ मे पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है। इसके पास की गुफा मे बाहुबली की 7 फुट ऊँची मूर्ति उत्कीर्ण है।

दक्षिण में ही दौलताबाद से लगभग 16 मील दूर एलोरा की गुफाएँ हैं। इन मे पाँच जैन-गुफाएँ हैं। इनमें एक इन्द्रसभा नामक दोतल्ला सभागृह है। इसकी बाहरी दक्षिणी दीवार पर बाहुबली की एक मूर्ति उत्कीर्ण है।

उत्तर भारत की विशिष्ट बाहुबली मूर्तियाँ

बहुत समय तक कला-विवेचकों में यह धारणा प्रचलित थी कि बाहुबली की मूर्तियाँ दक्षिण भारत में ही प्रचलित हैं। उत्तर भारत में इनके उदाहरण अत्यन्त

विरल हैं। किन्तु शोध-खोज के उपरान्त उत्तर भारत में उल्लेखनीय अनेक बाहुबली-मूर्तियों के अस्तित्व का पता लगा है जिनका विवरण निम्नप्रकार है—

जूनागढ़ संग्रहालय में प्रदर्शित नौवीं शताब्दी की मूर्ति जो प्रभासपाटन से प्राप्त हुई है।

खजुराहो मे पार्श्वनाथ मन्दिर की बाहरी दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण दसवीं शताब्दी की मूर्ति।

लखनऊ संग्रहालय की दसवी शताब्दी की बाहुबली-मूर्ति जिसका मस्तक और चरण खंडित हैं।

देवगढ से प्राप्त मूर्ति, दसवी शताब्दी की, जो अभी वही के 'साहू जैन संग्रहालय' मे प्रदर्शित है। इस मूर्ति का चित्र जर्मन पुरातत्त्व-वेत्ता क्लौस ब्रून ने अपनी पुस्तक मे दिया है। देवगढ मे बाहुबली की 6 मूर्तियाँ प्राप्त हैं।

बिलहरी, जिला जबलपुर, मध्यप्रदेश से एक शिलापट प्राप्त हुआ है जिस पर बाहुबली की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

बीसवीं शताब्दी की नयी मूर्तियो में, जिन्हे ऊँचे माप पर बनाया गया है, आरा (बिहार) के जैन बालाश्रम मे स्थापित मूर्ति, उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद नगर मे कुछ वर्ष पूर्व स्थापित विशाल बाहुबली-मूर्ति और सागर, म० प्र० के वर्णी भवन मे स्थापित मूर्ति उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत के अन्य मन्दिरो मे भी ब्रोन्ज और पीतल की अनेक बाहुबली मूर्तियाँ विराजमान हैं।

कतिपय त्रिमूर्तियाँ

बाहुबली को भरत चक्रवर्ती के साथ ऋषभनाथ की परिकर-मूर्तियो के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है। बाएँ लता-वेष्टित बाहुबली की और दाएँ नव-निधि से अभिशात भरत की मूर्ति से समन्वित ऋषभनाथ की जटा-मण्डित मूर्तियाँ भव्य बन पडी हैं। ऐसे अनेक मूर्त्यंकन देखे गये हैं—

जबलपुर जिले मे बिलहरी ग्राम के बाहर स्थित कलचुरिकालीन, लगभग नौवी शती, जैन मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल पर इस प्रकार का सम्भवत. प्रचीनतम मूर्त्यंकन है।

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ के पर्वत पर एक मन्दिर मे जो ऐसा मूर्त्यंकन है वह कला की दृष्टि से सुन्दरतम है और उसका निर्माण देवगढ़ की अधिकांश कलाकृतियो के साथ लगभग दसवीं शती में हुआ होगा।

खजुराहो के केन्द्रीय संग्रहालय में एक सिरदल (क्रमांक 1724) है। उस पर विभिन्न तीर्थंकरो के साथ भरत और बाहुबली के मूर्त्यंकन भी हैं। यह दसवी शती की चन्देल कृति है।

भरत और बाहुबली के साथ ऋषभनाथ की विशालतम मूर्ति तोमरकाल, पन्द्रहवीं शती, मे ग्वालियर की गुफाओ मे उत्कीर्ण की गयी।

इस प्रकार की एक पीतल की मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्राहलय में है। इसमे ऋषभनाथ सिंहासन पर आसीन हैं और उनकी एक ओर भरत तथा दूसरी ओर बाहुबली कायोत्सर्गस्थ हैं। यह संभवत: चौदहवीं शती की पश्चिम भारतीय कृति है।

इन पाँचों के अतिरिक्त और भी कई मूर्तियो पर ऋषभनाथ के साथ भरत और बाहुबली की प्रस्तुति होने का संकेत मिलता है। उडीसा के बालासौर जिले में भद्रक रेलवे स्टेशन के समीप चरम्पा नामक ग्राम से प्राप्त और अब राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर मे प्रदर्शित अनेक जैन मूर्तियो मे से कुछेक मे इस प्रकार के मूर्त्यंकन हैं।

इनके अतिरिक्त एक ऐसा मूर्त्यंकन भी प्राप्त हुआ है जो इन सभी से प्राचीन कहा जा सकता है। उडीसा के क्योझर जिले मे अनन्तपुर तालुका मे बौला पहाडियो के मध्य स्थित पोदसिंगिदि नामक ऐतिहासिक स्थान है। यहाँ ऋषभनाथ की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। उडीसा मे प्राप्त यह प्रथम जैनमूर्ति है जिस पर लेख उत्कीर्ण है। इसमे आसन पर वृषभ लाछन के सामने दो बद्धाजलि भक्त अकित हैं जो भरत और बाहुबली माने जा सकते हैं, और तब यह इस प्रकार की मूर्तियो मे सर्वाधिक प्राचीन होगी।

एक पटली-चित्राकन

बाहुबली की गृहस्थ अवस्था का, भरत से युद्ध करते समय का, मूर्त्यंकन तो नहीं किन्तु चित्राकन अवश्य प्राप्त हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रो के ऊपर-नीचे जो काष्ठ-निर्मित पटलियाँ बाँधी जाती थी उनमे से एक पर यह चित्रांकन है। मूलत जैसलमेर भण्डार की यह पटली पहले साराभाई नवाब के पास थी और अब बम्बई के कुसुम और राजेय स्वाली के निजी संग्राहलय मे है। बारहवी शती की इस पटली की रचना सिद्धराज जयसिंह चालुक्य, 1094-1144 ई०, के शासनकाल मे विजयसिंहाचार्य के लिए हुई थी। इसका रचनास्थल राजस्थान होना चाहिए। भरत-बाहुबली-युद्ध इस पटली के पृष्ठभाग पर प्रस्तुत है जिस पर घुमावदार लता-वल्लरियों के वृत्ताकारो मे हाथी, पक्षी और पौराणिक शेरो के आलकारिक अभिप्राय अकित हैं।

उत्तर और दक्षिण की बाहुबली-मूर्तियों में रचना-भेद

बाहुबली की मूर्तियो की सामान्य विशेषता यह है कि उनकी जघाओ, भुजाओ और वक्षस्थल पर लताएँ उत्कीर्ण रहती हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि

बाहुबली ने एक स्थान पर खड़े होकर इतने दीर्घ समय तक कायोत्सर्ग ध्यान किया कि उनके शरीर पर बेलें चढ़ गयी।

दक्षिण की मूर्तियो मे चरणो के पास साँप की बाँबियाँ (बमीठे) हैं जिनमे से साँप निकलते हुए दिखाए गए हैं। किन्तु उत्तर की मूर्तियो में, प्रभासपाटन की मूर्ति को छोड़कर सभवत और किसी मे साँप की बाँबियाँ नही दिखायी गयी हैं।

उत्तर भारत की मूर्तियो मे बाहुबली की बहिनो—ब्राह्मी और सुन्दरी का अकन नही है। जहाँ भी दो स्त्रियाँ दिखाई गयीं हैं वे या तो सेविकाएँ हैं, या फिर विद्याधरियाँ जो लता-गुच्छो का अन्तिम भाग हाथ मे थामे हैं, मानो शरीर पर से लताएँ हटा रही है। एलोरा की गुफा की बाहुबली मूर्ति मे जो दो महिलाएँ अकित हैं, वे मुकुट और आभूषण पहने हैं। वे ब्राह्मी और सुन्दरी हो सकती हैं।

बिलहरी की दो मूर्तियो मे से एक मे दो सेविकाएँ, जो विद्याधरी भी हो सकती हैं, लतावृन्त थामे हुए हैं। ये त्रिभग-मुद्रा मे है। मूर्ति के दोनो ओर और कन्धो के ऊपर जिन-प्रतिमाएँ हैं। दूसरी मूर्ति मे भक्त-सेविकाएँ प्रणाम की मुद्रा मे लता-गुच्छ थामे दिखायी गयी हैं।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, उत्तर भारत की कायोत्सर्ग प्रतिमाओ मे बाहुबली को साक्षात् तीर्थंकर की प्रतिष्ठा दर्शाने के लिए सिंहासन, धर्मचक्र, एक-दो या तीन छत्र, भामण्डल, मालाधारी, दुन्दुभिवादक और यहाँ तक कि यक्ष-यक्षियो का भी समावेश कर लिया गया। श्रीवत्स चिह्न तो अकित हैं ही।

इसीलिए प्रथम कामदेव बाहुबली को अब सम्पूर्ण श्रद्धाभाव से भगवान बाहुबली कहा जाता है, और उनकी मूर्ति को तीर्थंकर-मूर्ति के समान पूजा जाता है।

धोती-पहने बाहुबली की मूर्तियाँ भी कतिपय श्वेताम्बर मन्दिरो मे प्राप्त हैं। दिलवाड़ा (राजस्थान) मन्दिर की विमलवसहि, शत्रुजय (गुजरात) के आदिनाथ मन्दिर और कुम्भारिया (उत्तर गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर मे लगभग 11-12वी शताब्दी की इस प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इन मूर्तियो का यद्यपि अपना एक विशेष सौंदर्य है तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि बाहुबली की तपस्या और उनकी कायोत्सर्ग मुद्रा का समस्त सहज प्रभाव दिगम्बरत्व मे ही है।

महामस्तकाभिषेक

वीरश्रेष्ठ चामुण्डराय ने जब दसवी शताब्दी मे गोम्मटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य के अनुष्ठान-सचालन मे की तो उस भव्य दृश्य को जनता ने सदा के लिए हृदय मे अकित कर लिया। अवश्य ही, महामस्तकाभिषेक की परम्परा, बाद मे, निश्चित विधि-विधान और मुहूर्त-शोधन द्वारा इगित काल-अवधि के अन्तर्गत सम्पन्न होनी प्रारम्भ हुई होगी। तदुपरान्त प्रत्येक बारहवें वर्ष महामस्तकाभिषेक का अनुष्ठान, क्षेत्र के प्रथम धर्माचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य-प्रशिष्य नियोजित करवाते रहे, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। मैसूर राज्य के नरेशो ने जनता के इस धार्मिक उल्लास मे सम्मिलित होकर अपने को कृतार्थ अनुभव किया। क्षेत्र के धर्माचार्य, राज्य के नरेश और जनता के सामूहिक धार्मिक उल्लास ने, जिनकी प्रतिनिधि महिमामयी गुल्लिका-अज्जी रही आयी, देश के इस अद्भुत सास्कृतिक तीर्थ को नये आयाम दिये।

शिलालेख क्रमाक 360 के अनुसार सन् 1398 मे पण्डिताचार्य के निर्देशन मे जो महामस्तकाभिषेक हुआ, उसमे उल्लेख है कि उससे पहले सात महामस्तकाभिषेक हो चुके थे।

यदि महामस्तकाभिषेक बारह वर्ष के अन्तराल से होने की परिपाटी बन गई थी, तो मानना चाहिये कि सन् 1314 मे एक महामस्तकाभिषेक हुआ होगा।

सन 1612 के अभिषेक का उल्लेख कवि पचबाण ने किया है। यह अभिषेक धर्माध्यक्ष श्री शान्तिवर्णी द्वारा निष्पन्न हुआ था।

इसके बाद के महामस्तकाभिषेकों की सम्पन्नता जिन मैसूर-नरेशो के द्वारा सन् 1605, 1659, 1677, 1800, 1825 मे हुई, उनका उल्लेख क्रमश इस प्रकार मिलता है—चिक्क देवराज वडीयर, दोड्ड देवराज वडीयर, इनके मन्त्री विशालाक्ष, मुम्मडि कृष्णराज वडीयर और कृष्णराज वडीयर (तृतीय)।

सन 1827 के अभिषेक का वर्णन एक शिलालेख में है। सन् 1879 के महाभिषेक का वर्णन 'इन्डियन एन्टीक्वेरी' में है, जब मूर्ति का नाप लिया गया था।

सन 1887 के अभिषेक का वर्णन 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' मे रोचक ढग से किया गया है।

सन् 1900, 1910, 1925 1940, 1953, और 1967 के महामस्तकाभिषेक के विशद वर्णन उपलब्ध हैं। 1967 के महामस्तकाभिषेक के आयोजन के समय स्वर्गीय श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन ने विविध कार्यक्रमो को नियोजित करने और उन्हे सफल बनाने मे जो श्रम किया तथा समाज को मार्गदर्शन दिया, वह चिर-स्मरणीय रहेगा। उनके अग्रज श्री साहू श्रेयांसप्रसाद उस परम्परा को आगे बढाकर 1981 के सहस्राब्दि प्रतिष्ठान-महोत्सव को सफल बनाने के लिए जिस प्रकार दिन-रात कार्यरत हैं वह निस्सदेह स्तुत्य है। यह देश का सौभाग्य है कि परम विद्वान, तपस्वी और वचस्वी साधु एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज की प्रेरणा देश-व्यापी प्रभाव उत्पन्न कर रही है। एक मणिकाचन सुयोग यह भी हुआ कि आज श्रवणबेलगोल की धर्मपीठ के कर्मठ, तत्वज्ञ और शान्तपरिणामी तरुण त्यागमूर्ति भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी महाराज की छत्रछाया में इस क्षेत्र का उत्तरोतर विकास हो रहा है। इस विकास के इतने नये आयाम हैं कि देखकर चमत्कृत हो जाना पडता है।

1981 का सहस्राब्दि-महोत्सव विश्व के धार्मिक-सास्कृतिक इतिहास मे अपना विशेष महत्त्व रखेगा इसमे सन्देह नही, क्योकि लाखो नर-नारी इसमे सम्मिलित होगे और विश्व के दूरदर्शन-केन्द्र, फिल्म-निर्माता, रेडियो-स्टेशन आदि अपूर्व रुचि लेंगे।

धन्य भाग्य उनके जिनके जीवन मे यह अवसर आ रहा है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विचरित

गोमटेस-थुदि

(1)

विसट्ट-कदोट्ट-दलाणुयार,
सुलोयण चद-समाण-तुण्ड।
घोणाजिय चम्पय-पुप्फसोह,
त गोमटेस पणमामि णिच्च॥

(2)

अच्छाय-सच्छ जलकत-गड,
आबाहु-दोलत सुकण्णपास।
गइद - सुण्डुज्जल - बाहुदण्ड,
त गोमटेस पणमामि णिच्च॥

(3)

सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसोक्ख,
हिमालयुद्दाम विसाल-कधं।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं॥

(4)

विज्झायलग्गे, पविभासमाण,
सिद्धामणि सव्व-सुचेबियाण ।
तिलोय - सतोलय - पुण्णचंद,
त गोमटेस पणमामि णिच्च ।।

(5)

लयासमक्कत - महासरीर,
भव्वावलीलद्ध-सुकप्परुक्ख ।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्म,
त गोमटेस पणमामि णिच्च ।।

(6)

दियंबरो यो ण च भीइजुत्तो,
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ।
सप्पादि-जतुप्फुसदो ण कपो,
त गोमटेस पणमामि णिच्च ।।

(7)

आसा ण ये पेक्खदि सच्छदिट्ठि,
सोक्खे ण बछा हयदोसमूल ।
विरागभाव भरहे विसल्ल,
त गोमटेस पणमामि णिच्च ।।

(8)

उपाहिमुत्त धण धाम-वज्जिय,
सुसम्मजुत्त मय-मोहहारय ।
वस्सेय पज्जतमुवास-जुत्त,
त गोमटेस पणमामि णिच्च ।।

गोम्मटेश्वर-स्तुति

[हिन्दी पद्यानुवाद . लक्ष्मीचन्द्र जैन)

(1)

चारु लोचन नील उत्पल-दल सदृश,
चन्द्रमा के बिम्ब-सा मुख समुज्ज्वल,
नासिका ज्यों फूल चम्पा का सुभग,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(2)

स्वच्छ छाया-हीन वपु, सु-कपोल ज्यों
जल-कान्ति, फैले कर्ण युग आबाहु,
गजराज की सित शुण्ड-से भुज-दण्ड,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(3)

दिव्यता को विजित करती कण्ठ-छवि,
स्कन्ध हिमगिरि सदृश तुङ्ग विशाल,
दृष्टि-सुख है मध्य का कटि भाग,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(4)

विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रद्योत,
भव्यजन के बोध-सौध-शिखासुमणि,
शान्तिदायक पूर्णचन्द्र त्रिलोक के,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(5)

समाच्छादित लताओ से तुङ्ग तन
भव्य प्राणी पा गये तरु कल्प,
इन्द्रगण नित पूजते पद-पद्म,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(6)

जो दिगम्बर श्रमण नित भय-मुक्त,
त्यक्त अम्बर, शान्त मन, परिशुद्ध,
जन्तु अहि तन पर, तदपि निष्कम्प,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(7)

विगत आश-निराश, निर्मल दृष्टि,
सुख अवांछित, दोष सब निर्मूल,
मन विरागी, भरत-शल्य-विलीन,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(8)

धाम-धन वर्जित, उपाधि-विमुक्त,
मोह-मद-माया रहित, सम भाव,
वर्ष का उपवास धर, ध्यानस्थ,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट 1

- शिलालेख संग्रह भाग 1 से
- लेखों के क्रमांक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के अनुसार हैं।

मूल संघ के नन्दि गण और देशीगण का वंशवृक्ष

(लेख क्र० 73, 79, 135, 150 और 173)

कुन्दकुन्दाचार्य (पद्मनन्दि)

उमास्वाति (गृद्धपिञ्छ)

परिशिष्ट 2

समस्त शिलालेखो का स्थान और शताब्दी-क्रम से विश्लेषण

श्रवणबेल्गोल, उसकी दोनो पहाडियो तथा आसपास के क्षेत्र मे प्राप्त कुल 573 शिलालेखो मे कितने शिलालेख किस शताब्दी के और किस स्थान पर हैं इसका विवरण निम्नलिखित तालिका मे दिया गया है। यह विवरण 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये सस्करण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

काल	चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि)	दोड्डबेट्ट (विंध्यगिरि)	श्रवणबेल्गोल (नगर)	समीप के ग्राम	योग
6-7वी शताब्दी	1	—	—	—	1
7वीं शताब्दी	54	—	—	—	54
8वी शताब्दी	20	—	—	—	20
9वी शताब्दी	10	—	—	—	10
10वी शताब्दी	69	7	—	—	76
11वी शताब्दी	41	3	2	4	50
12वी शताब्दी	53	38	15	22	128
13वी शताब्दी	16	16	10	10	52
14वी शताब्दी	3	7	8	3	21
15वीं शताब्दी	—	20	8	3	31
16वी शताब्दी	—	11	2	3	16
17वीं शताब्दी	3	38	15	4	60
18वी शताब्दी	—	28	3	—	31
19वीं शताब्दी	1	4	17	1	23
	271	172	80	50	573

परिशिष्ट 3

शिलालेखो मे उल्लिखित प्रमुख आचार्यों, मुनियो और पण्डितो की नामावलि

नामावलि मे वर्णित आचार्य, मुनि आदि का परिचय माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'शिलालेख सग्रह' भाग 1 पर आधारित है, किन्तु शिलालेखो के क्रमाक 'एपिग्राफिया कर्नाटिक' के नये सस्करण के अनुसार दिये गये हैं।

सकेताक्षरो का अर्थ

अ० या अनु० = अनुमानत.। कु० = कुक्कुटासन। त्रै० देव = त्रैविद्यदेव। प० आचार्य = पडिताचार्य। प० देव = पडितदेव। ब्रह्म = ब्रह्मचारी। म० म० = महामण्डलाचार्य। मू० दे० पु० = मूल सघ, देशीगण, पुस्तक-गच्छ। सि० देव = सिद्धान्तदेव। सि०च० = सिद्धान्त चक्रवर्ती। सि० मु० = सिद्धान्त मुनीश्वर।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक सवत्	विशेष विवरण
1	बलदेव मुनि	कनकसेन	2	अ० 572	समाधिमरण।
2	शान्तिसेन मुनि	—	34	"	समाधिमरण। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र ने जिस धर्म की उन्नति की थी उनके क्षीण होने पर इन मुनिराज ने उसे पुनरुत्थापित किया।

3	अरिष्टनेमि आचार्य	—	13 16 233	”	समाधिमरण। इनके अनेक शिष्य थे। समाधि के समय 'विण्णिकराज' साक्षी थे। लेख क्र० 16 व 233 यद्यपि क्रमश. 8वीं व 9वीं शताब्दी के अनुमान किये जाते हैं तथापि सम्भवत उनमें भी इन्हीं आचार्य का उल्लेख है। लेख क्र० 233 मे वे 'परसमयध्वंसक' पद से विभूषित किये गये हैं तथा 'भले गोल' कहे गये हैं।
4	वृषभनन्दि आचार्य	—	85	”	इनके किसी शिष्य ने समाधिमरण किया।
5	मौनि गुरु	—	23	अ० 622	एक शिष्या का समाधिमरण। ये ही सम्भवत लेख क्र० 10 के गुणसेन गुरु के तथा लेख क्र० 121 के वृषभनन्दि गुरु के गुरु थे।
6	चरितश्री मुनि	—	14	”	समाधिमरण।
7	पानप (मौनद)	—	11	”	समाधिमरण।
8	बलदेव गुरु	धर्मसेन गुरु	27	”	समाधिमरण। इनके गुरु 'कित्तूर' परगने मे 'वेलमाद' नामक स्थान के थे।
9	उग्रसेन गुरु	पट्टिनि गुरु	28	”	समाधिमरण। इनके गुरु 'मालनूर' के थे। उग्रसेन ने एक मास तक अनशन किया।
10	गुणसेन गुरु	मौनि गुरु	10	”	समाधिमरण। लेख क्र० 23 में सम्भवत. इन्ही मौनिगुरु का उल्लेख है। गुणसेन 'कोट्टर' के थे।
11	उल्लिक्कल गुरु	—	7	”	समाधिमरण।
12	कालावि (कलापक) गुरु	—	36	”	एक शिष्य का समाधिमरण।
13	नागसेन गुरु	ऋषभसेन गुरु	37	”	समाधिमरण।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
14	सिंहनन्दि गुरु	वेट्टेडे गुरु	35	अ० 622	समाधिमरण।
15	गुणभूषित	—	32	"	सन्दिग्धगण (?)। समाधिमरण। लेख बहुत घिसा है, इससे भाव स्पष्ट नहीं हुआ।
16	मेल्लगवास गुरु	—	31	"	समाधिमरण। ये गुरु 'नुगूर' के थे।
17	नन्दिसेन मुनि	—	99	"	समाधिमरण।
18	गुणकीर्त्ति	—	120	"	समाधिमरण।
19	वृषभनन्दि मुनि	मौनिय आचार्य	121	"	नविलूर संघ। समाधिमरण।
20	चन्द्रदेवाचार्य	—	94	"	समाधिमरण। ये 'नंदि' राज्य के थे।
21	मेघनन्दि मुनि	—	124	"	नमिलूर संघ। समाधिमरण।
22	नन्दि मुनि	—	126	"	समाधिमरण।
23	महादेव मुनि	—	90	"	समाधिमरण।
24	सर्वज्ञभट्टारक	—	15	"	समाधिमरण। ये 'वेगुरा' के थे।
25	अक्षयकीर्त्ति	—	24	"	समाधिमरण। ये दक्षिण 'मदुरा' से आये थे। इन्हें सर्प ने सताया था।
26	गुणदेव सूरि	—	26	"	समाधिमरण।
27	मासेन (महासेन) ऋषि	—	30	"	समाधिमरण।
28	सर्वनन्दि	चिकुरापरविय(?)	39	"	समाधिमरण। चिकुरा परविय का तात्पर्य चिकूर के परविय गुरु या चिकुरापरविय के गुरु हो सकता है। 'परवि' एक प्राचीन तालुके का नाम भी पाया जाता है।

29	बलदेवाचार्य	—	92	अ० 622	समाधिमरण।
30	पद्मनन्दि मुनि	—	93	”	समाधिमरण।
31	पुष्पनन्दि	—	95	”	समाधिमरण।
32	विमोक भट्टारक	—	104	”	कोलातूर सघ। समाधिमरण।
33	इन्द्रनन्दि आचार्य	—	110	”	समाधिमरण।
34	पुष्पसेनाचार्य	—	118	”	नविलूर सघ। समाधिमरण।
35	श्रीदेवाचार्य	—	119	”	समाधिमरण।
36	मल्लिसेन भट्टारक	—	5	अ० 9वी शताब्दी	समाधिमरण। इनके एक शिष्य ने तीर्थ-वन्दना की।
37	कुमारनन्दिभट्टारक	—	168	”	समाधिमरण।
38	अजितसेनभट्टारक	—	64	अ० 896	लेख क्र० 64 मे कहा गया है कि गङ्गनरेश मारसिंह ने इनके निकट समाधिमरण किया। लेख क्र० 150 के अनुसार इनके शिष्य चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन ने जिन-मंदिर बनवाया।
	” मुनि		150		
39	मलधारिदेव	नयनन्दि विमुक्त	240	अ० 970	नयनन्दि विमुक्त के एक शिष्य ने तीर्थ-वन्दना की।
40	पद्मनन्दिदेव	—	(?)	अ० 1000	महामण्डलेश्वर त्रिभुवनमल्ल कोङ्गाल्व ने कुछ भूमि का दान किया।
41	प्रभाचन्द्रसिद्धान्त देव	—	500	अ० 1001	चैत्यालय के हेतु कोङ्गाल्व नरेश अदटरादित्य द्वारा भूमिदान। उपाधि—उभयसिद्धान्तरत्नाकर।
42	गण्डविमुक्तदेव	—	(?)		मूलसघ, कानूर गण, तगरिल गच्छ। कोङ्गाल्वनरेश राजेन्द्र पृथुवी द्वारा वसदि-निर्माण और भूमिदान।
43	देवनन्दि भट्टारक	—	520	अ० 1000	—

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
44	गोपनन्दि पण्डित देव	चतुर्मुखदेव	565	अ० 1015	मू० दे० पू०। पोय्सलनरेश त्रिभुवनमल्ल एरेयङ्ग ने बसदियो के जीर्णोद्धार के हेतु ग्राम का दान किया। गोपनन्दि ने क्षीण होते हुए जैनधर्म का गङ्ग-नरेशो की सहायता से पुनरुद्धार किया। वे षड्दर्शन के ज्ञाता थे।
45	देवेन्द्रसिद्धान्तदेव	—	565	"	मू० दे० पु०। उपर्युक्त नरेश के गुरुओ में से थे।
46	अकलङ्क पण्डित	—	46	अ० 1020	—
47	सातनन्दि देव	—	152	"	चरणचिह्न हैं।
48	चन्द्रकीर्त्तिदेव	—	153	"	"
49	अभयनन्दिपण्डित	—	51	अ० 1022	एक शिष्य ने देववन्दना की।
50	शुभचन्द्रसि०देव	कु०मलधारि देव	155	1037	मू० दे० पु०। ये पोय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के मंत्री गंगराज दण्ड-नायक और उनके कुटुम्ब के गुरु थे। इन्होने उक्त कुटुम्ब के सदस्यो से कितने ही जिनालय निर्माण कराये, जीर्णोद्धार कराया, मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराई और कितनो ही को दीक्षा, सन्यास आदि दिये।
			82	1039	
			154, 160, 80, 84	1040	
			503, 504, 547, 550	अ० 1041	

			158	1042	
			157 161	1044	
			176	1050	
			342	अ० 1100	
51	दिवाकरनन्दि	देवेन्द्र सि० देव	484	1041	मू० दे० पु० । इस लेख से यह गुरुक्रम विदित होता है— देवेन्द्र सि० देव │ दिवाकरनन्दि │ मलधारिदेव — शुभचन्द्र देव सि० मु०
52	भानुकीर्तिमुनि	—	170	1039	मू० दे० । पोय्सल राजसेट्टि ने इनसे दीक्षा ली ।
53	प्रभाचन्द्रसि०देव	मेघचन्द्र त्रै० देव	174 175	1041	इनकी एक शिष्या ने पट्टशाला (वाचनालय) स्थापित कराई। ये
			136	1043	विष्णुवर्द्धन नरेश की रानी शान्तलदेवी के गुरु थे। उनके निर्माण
			162	1045	कराये हुए सवतिगन्धवारण मन्दिर के लिए इन्हें ग्राम आदि के दान
			176	1050	दिये गये थे।
54	चारुकीर्त्ति देव	—	176	"	लेख के लेखक वोकिमय्य के गुरु।
55	कनकनन्दि	—	136	1043	ये मुल्लूर निवासी थे (मुल्लूर कुर्ग में है)। नृपकाम पोय्सल के आश्रित एचिमाक्क के गुरु थे।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक सवत्	विशेष विवरण
56	वर्धमानदेव	—	176	1050	इनकी और प्रभाचन्द्र सि० देव की साक्षी से शान्तलदेवी की माता ने सन्यास लिया था।
57	रविचन्द्रदेव				
58	गण्डविमुक्त सि० देव	—	371	1050	मू० दे० पू०। इनके शिष्य दण्डनायक भरतेश्वर ने भुजबलि स्वामी का पादपीठ निर्माण कराया।
			204	अ० 1070	
59	नयकीर्त्ति	—	(?)	1050	विष्णुवर्धन नरेश के राज्यकाल मे नयकीर्त्ति का स्वर्गवास हो जाने पर कल्याणकीर्ति को जिनालय बनवाने व पूजनादि के हेतु भूमि का दान दिया गया।
			—	—	
60	कल्याणकीर्त्ति	—			—
61	भानुकीर्तिदेव	—	532	अ० 1057	—
62	माघवचन्द्रदेव	शुभचन्द सि० देव	532	"	मू० दे० पू०।
63	नयकीर्त्तिदेव	—	517	अ० 1065	—
64	म०म०(हिरिय) नयकीर्ति देव (चिक्क)	—			
65	शुभकीर्तिदेव	—	81	अ० 1067	—
66	त्रिकालयोगी	—	529	अ० 1067	—
67	अभयदेव	—	529	"	मूल सघ।
68	कु० मलधारिदेव	—	476	अ० 1080	हुल्ल मत्री के गुरु।

69	नयकीर्ति सि० देव (म० म०)	गुणचन्द्र सि० दे०	476	"		मू० दे० पू० । हनसोगे शाखा । हुल्ल मंत्री ने ग्राम का दान किया।
			279	अ०	1020	
			443	"		
			281-90	"		
			294	"		
			296	"		
			297	"		
70	दामनन्दि त्रै० देव	म० म० नयकीर्तिदेव	481		1081	—
			476	अ०	1087	
71	भानुकीर्ति सि० देव		205	"	1092	—
			202	"	1092	—
72	बालचन्द्रदेव अध्यात्मि		565	"	1095	मू० दे० पू० । हनसोगे शाखा। कुन्दकुन्दाचार्य के प्राभृत-त्रय पर
			342	"	1100	इनकी कन्नडी टीका पाई जाती है।
73	प्रभाचन्द्रदेव		285		"	—
			81		"	—
74	माघनदि भट्टारक		336	"	1102	
			444	"	1103	
75	पद्मनन्दिदेव मंत्रवादि		453		"	
			571		1104	
76	नेमिचन्द्र पं०देव		457	अ०	1118	
			293, 295, 292	"	1120	

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
			455	अ० 1128	
			286	" 1153	
77	लक्खनन्दिमुनि	देवकीर्ति म०म०	—	—	देवकीर्ति मुनि बडे भारी कवि, तार्किक और वक्ता थे। उक्त तिथि को उनका स्वर्गवास होने पर उनके शिष्यों ने उनकी निषद्या बनवाई।
78	माधवचन्द्रव्रती		70	1085	
79	त्रिभुवनमल्ल मेघयोगी				
80	चन्द्र	बालचन्द्र अध्यात्मी	(?)	1108	मू० दे० पू०। इनके एक शिष्य रामदेव विभ्र ने जिनालय बनवाया व दान दिया।
81	नयकीर्तिदेव	(हिरिय) नय-कीर्त्तिदेव	535	अ० 1110	—
82	धनकीर्तिदेव	—	210	1112	—
83	चन्द्रप्रभदेव	हिरियनय-कीर्त्तिदेव	339-40	अ० 1108	—
	म० म०			1120	—
84	चन्द्रकीर्ति	—	189	अ० 1120	—
85	कनकनन्दिदेव	—	260	"	इनकी प्रतिमा है।
86	मल्लिषेण	—	505	"	—
87	सागरनन्दि सि० देव	शुभचन्द्र त्रै० देव	526	"	मू० दे० पू०।

88	शुभचन्द्र त्रै० देव	माघनन्दि सि देव०	526	”	मू० दे० पु०।
89	वादिराज	—	572	श० 1122	—
90	मल्लिषेण मलधारि	—	”	”	—
91	श्रीपालयोगीन्द्र	—	”	”	—
92	आदिराजदेव	श्रीपाल योगीन्द्र	”		—
93	शान्तिसिंगपण्डित	”	”	”	—
94	परवादिमल्लपण्डित	”	”	”	—
95	नेमिचन्द्र प० देव म० म० राजगुरु	”	539	1136	—
96	अभयनन्दि	—	480	श० 1170	—
97	सुरकीर्त्ति	—	”	”	—
98	गुणचन्द्र	—	”	”	—
99	भानुकीर्त्ति	माघनन्दि सि० च०	(?)	1170	—
100	माघनन्दि भट्टारक	भानुकीर्त्ति	”	”	—
101	चन्द्रप्रभदेव	नयकीर्त्ति देव म० म०	348	श० 1196	—

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
102	चन्द्रकीर्ति भट्टारक	—	345	अ० 1197	—
103	प्रभाचन्द्र भट्टारक	—	346, 349	"	—
104	मुनिचन्द्रदेव	उदयचन्द्रदेव म० म०	476	1200	—
105	पद्मनन्दिदेव	चन्द्रप्रभदेव	"	"	—
106	कुमुदचन्द्र	—	451	1205	—
107	माघनन्दि सि० च०	—	"	"	होयसलराय राजगुरु। सम्भवत ये ही उस शास्त्रसार के कर्ता हैं जिसका उल्लेख प्रारम्भ के एक श्लोक में आया है।
108	बालचन्द्रदेव	नेमिचन्द्र प० देव	557	अ० "	मू० दे०। इगिलेश्वर बलि।
109	अभिनव पण्डिताचार्य	—	353	अ० 1233	—
110	पद्मनन्दिदेव	त्रैविद्यदेव	375	अ० 1238	मू० दे० पु०। समाधिमरण।
111	चारुकीर्ति प० आचार्य	—	482	अ० 1239	—
112	" (अभिनव)	—	472 470	अ० 1247 "	एक शिष्य ने मगायि बसदि निर्माण कराई।
113	मल्लिषेणदेव	लक्ष्मीसेन भट्टारक	253	अ० 1320	निषद्या।

114	सोमसेनदेव	—	377	”	एक शिष्य ने वन्दना की।
115	भुवनकीर्तिदेव	—	378	”	निषद्या।
116	सिंहनन्दिआचार्य	—	382	”	—
117	हेमचन्द्रकीर्तिदेव	शान्तिकीर्तिदेव	379	”	निषद्या।
118	चन्द्रकीर्ति	—	361	1331	भूमिदान।
119	पण्डिताचार्य व पण्डितदेव	—	467 423	श० 1330 ”	इनकी शिष्या देवराय महाराय की रानी भीमादेवी ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई।
120	श्रुतमुनि	पण्डितार्यमुनि	357	1344	इनके समक्ष दण्डनायक इरुगप ने बेल्गोल ग्राम का दान किया।
121	जिनसेन भट्टारक (पट्टाचार्य)	—	354	श० 1360	संघ सहित वन्दना को आये।
122	अभिनव पण्डित देव	चारुकीर्ति प० देव	363	1371	—
123	पण्डितदेव	—	545 471	श० 1420	—
124	चारुकीर्तिभट्टारक	—	387	श० 1520	चरणचिह्न।
125	पण्डितदेव	—	365	श० 1531	—
126 127	ब्रह्म० धर्मरुचि ” गुणसागर	अभयचन्द्रभट्टारक	304	वि० संवत् 1558	यात्रा।
128	चारुकीर्तिप० देव	—	352	1556	इनके समक्ष मैसूर-नरेश ने मन्दिर की भूमि ऋणमुक्त कराई।
	”	—	497	1565	स्वर्गवास।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
129	धर्मचन्द्र	चारुकीर्ति	422	1570	बलात्कार गण। इनके उपदेश से बघेरवालो ने चौबीसतीर्थंकर प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।
130	श्रुतसागर वर्णी		421	1602	इनके साथ तीर्थ-यात्रा।
131	इन्द्रभूषण	राजकीर्त्ति के शिष्य लक्ष्मीसेन	384	वि० स० 1719	इनके साथ बघेरवालो ने तीर्थयात्रा की।
132	अजितकीर्ति	चारुकीर्ति | अजितकीर्ति | शान्तिकीर्ति	252	1731	देसी गण। एक मास के अनशन से सल्लेखना।
133	चारुकीर्ति प० आचार्य	—	(?)	1732 1752	मू० दे० पु०। मैसूर-नरेश कृष्णराज की ओर से सनदें प्राप्त कीं।
134	सन्मतिसागरवर्णी	चारुकीर्त्ति गुरु	(?)	1778	मू० दे० पु०। इनके मनोरथ से बिम्बस्थापना की गई।
			494	"	
			495	"	
			490	1780	
			493	"	

परिशिष्ट 4

शिलालेखो में राज-वंश और समय

श्रवणबेल्गोल मे और इसके परिवेश में पाये जाने वाले शिलालेख कर्नाटक प्रदेश के इतिहास के लिए कितने महत्त्वपूर्ण हैं, यह निम्नलिखित सूची से स्पष्ट होगा। इसमे उन प्रमुख राजाओ, सेनापतियों और राजपुरुषो के नाम दिये हैं जिनका उल्लेख सम्बन्धित क्रमाको के शिलालेखो मे है।

शिलालेखो का पाठ और विषय 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये सस्करण के आधार पर दिया है।

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
	राष्ट्रकूट-वंश	
कम्बय्य	आठवीं शताब्दी	38
इन्द्र-चतुर्थ	982	163
	गंग वंश	
सत्यवाक्य पेरमानडि	884	544
राचमल्ल द्वितीय	दसवी शताब्दी	171
एडेयग द्वितीय	दसवी शताब्दी	186
मारसिंह द्वितीय	दसवी शताब्दी	64
— —	दसवीं शताब्दी	40, 150, 272, 273, 276, 388
	कल्याण के चालुक्य	
विक्रमादित्य षष्ठ	1079	563

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
"	1094	568
"	—	532
	होयसल वंश	
विष्णुवर्धन	1113	155
	1115	156
	1118	82
	1119	547
	1123	162
	1124	569
	1131	176
	1138	552
	1139	174
	1145	173
	—	69, 161, 355, 502, 518, 538, 558, 561
नरसिंह प्रथम	1159	476, 481
"	1163	71
"	—	275, 278
बल्लाल द्वितीय	1173	565
"	1181	362, 444, 571
"	1195	457
"	—	342, 455, 564
नारसिंह देव द्वितीय	1231	286
"	1273	348
—	1117	170
—	1120	136, 158
—	1122	157
—	1123	135
—	1139	175
—	1176	73
	12वीं शताब्दी	80, 84, 149, 154, 160

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
		179, 274, 277, 322, 359, 371-73, 453, 477, 503, 504, 531, 550
—	13वी शताब्दी	455, 526, 528, 573
	विजयनगर	
बुक्कराय प्रथम	1368	475
हरिहर द्वितीय	1404	446
देवराय प्रथम	1422	357
देवराय द्वितीय	1446	445, 447
—	15वी शताब्दी	467
	मैसूर के ओडेयर	
चामराज सप्तम	1634	352, 485
दोड्डदेवराज	1672	551
चिक्क देवराज	—	501
दोड्ड कृष्णराज प्रथम	1723	351
कृष्णराज तृतीय	1827	324
	चङ्गाल्व	
चङ्गाल्व महादेव	1509	329
	नुग्गेहल्लि	
तिरुमल-नायक	16वी शताब्दी	556
	कदम्ब वंश	
कदम्ब	9वी शताब्दी	206
	नोलम्ब व पल्लववंश	
नोलम्ब	11वी शताब्दी	388
बुकर नायक (पल्लव)	13वीं "	256, 257

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
	चोलवंश	
चोल पेर्मंडि	10वीं शताब्दी	524
नरसिंह वर्मा	12वीं शताब्दी	342, 355, 547
	सिंगल वंश	
इरुंगोल	1177	73
"	1169	481

इनके अतिरिक्त सैकडो ऐसे भी शिलालेख हैं जिनमें उपर्युक्त वशो के साथ-साथ अन्यान्य अनेक राजवशो के राजाओ, मत्रियो, सेनापतियों आदि के नामो का स्पष्ट उल्लेख है। विस्तार-भय से उनके नाम यहाँ पर देना सभव नही है, अत निम्नलिखित सूची मे उनका काल तथा शिलालेख क्रमाक मात्र का दिया जा रहा है—

समय	शिलालेख क्रमांक
6वीं शताब्दी	1
7वीं शताब्दी	2, 13-15, 20-37, 85-87, 90, 91, 94,98, 99, 103, 104, 108, 110-14, 116-24, 126, 129, 130, 132-34, 219
8वी शताब्दी	6-11, 16-17, 39, 41, 53, 83, 88-89, 92-93, 95-96, 271
9वी शताब्दी	12, 60, 67, 68, 102, 140, 192, 223, 250
10वीं शताब्दी	3-5, 18, 19, 42-45, 48, 52, 63, 78, 100, 105, 106, 115, 125, 137-139, 142, 145, 159, 165, 166, 168, 178, 180, 187, 188, 190, 191, 196, 199, 200, 214, 220-22, 224-234, 238, 239, 241-47, 249, 255, 425, 433, 434
11वी शताब्दी	46, 47, 49-51, 56-59, 61, 65, 66, 97, 107, 109, 127, 128, 131, 141, 143, 144, 146, 147, 151-53, 164, 193-95, 197, 198, 201, 203, 213, 215, 235-37, 240, 248, 251, 258, 426, 430, 431, 520, 521, 560
12वीं शताब्दी	54, 55, 62, 70, 77, 79, 81, 148, 167, 177, 181-84,

समय	शिलालेख क्रमांक
	189, 202, 204, 205, 207, 208-12, 216-18, 260, 279-81, 287-90, 293-98, 301, 336-40, 343, 344, 356, 374, 389, 432, 443, 460, 469, 484, 523, 533, 534, 548, 549, 559, 562, 566, 567, 572
13वीं शताब्दी	101, 185, 254, 259, 261-70, 285, 299, 300, 345-47, 358, 375, 419, 420, 435, 440, 441, 456, 458, 459, 478-80, 483, 505, 517, 522, 535-36, 539, 554-55, 557, 570
14वी शताब्दी	72, 169, 253, 353, 360, 377-380, 382, 449, 470, 472, 482, 499, 500, 506, 523, 537, 541, 546
15वी शताब्दी	282-84, 291, 292, 303, 304, 330-34, 354, 363, 364, 381, 383, 438, 450, 473, 474, 543, 545
16वी शताब्दी	302, 305, 323, 325-28, 376, 387, 471, 519, 527, 553
17वी शताब्दी	74-76, 306, 365, 370, 384-86, 390, 394-98, 400, 407-18, 421-24, 427-29, 437, 439, 442, 451, 452, 497, 498, 507-16, 525, 540, 542, 551
18वी शताब्दी	307-21, 341, 350, 366-69, 391-93, 401, 404, 405, 448, 454
19वी शताब्दी	252, 335, 402, 403, 461-66, 486-96, 530

परिशिष्ट 5

शिलालेखो मे महिलाएँ

जैन धर्म और संस्कृति का प्रभाव जीवन मे कितना गहरा और व्यापक था इसका प्रमाण उन महिलाओं की नामावलि प्रस्तुत करती है जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेखो में आया है। यह सूची अकारादि क्रम से बनाई गई है। विशिष्ट नामो का परिचय-संकेत है। साथ में उन शिलालेखो का संदर्भ भी जिनमे प्रत्येक नाम आया है। लेख संदर्भ 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के आधार पर है।

महिलाएँ

अक्कब्बे चन्द्रमौलि मन्त्री की माता 444

अत्तिमब्बरसि, अत्तिमब्बे 82, 444, 532

आचलदेवी, आचले, आचाम्बा, आचियक्क चन्द्रमौलि मन्त्री की भार्या 362, 444, 571

आचलदेवी हेम्माडिदेव की भार्या 444

आचाम्बिके : अरसादित्य की भार्या 322

एचब्बे 532

एचलदेवी 342, 444

एचलदेवी 444, 476, 481, 557, 569, 571

कामलदेवी नागदेव मन्त्री की भार्या 73, 457

केलियदेवी, केलेयब्बरसि विनयादित्य होयसल नरेश की रानी 444, 476, 481, 571

गंगायी 408

पुल्लब्बे 356

गुणमतियब्बे 129

गौरश्रीकान्ति 374

परिशिष्ट 6

शिलालेखो मे वर्णित उपाधियाँ

श्रवणबेल्गोल के सन्दर्भ में जैन धर्म और संस्कृति के जिस प्रभाव की चर्चा आचार्यों, मुनियो और श्रावको के सयमित और आदर्शोन्मुख जीवन के प्रसगो में की गयी है, उस सस्कृति ने गृहस्थ राजपुरुषो को उनके लौकिक कर्तव्य के प्रति भी सदा सचेत रखा है। शिलालेखो मे उन शूरवीरो के पराक्रम का उल्लेख उनकी उपाधियों मे प्रतिबिम्बित है। एक-एक रण-बांकुरे को अनेक उपाधियो से सम्मानित किया गया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख उपाधियों का ही उल्लेख करना सम्भव हो पाया है। ये उपाधियाँ अपने अर्थ को स्वय स्पष्ट करती हैं।

शिलालेखो के क्रमाक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये सस्करण के अनुसार हैं। सन्दर्भ की सुविधा के लिए उपाधियाँ अकारादि क्रम से दी गयी हैं।

उपाधियाँ	लेख क्रमांक
अप्रतिमवीर	434 (जैन शिलालेख-सग्रह भाग 1)
अरिराय विभाड	475
अहित-मार्तण्ड	64
उदय-विद्याधर	172
कदन-कर्कश	64
कलिगलोलगण्ड	163
काडुवट्टि	64 पल्लव नरेशो की उपाधि
कीर्तिनारायण	163
गङ्गकन्दर्प	64
गङ्गगाङ्गेय	163
गङ्गचूडामणि	64
गङ्गमण्डलिक	64

उपाधियां	लेख क्रमांक
गङ्गरसिंग	64
गङ्गरोल्गण्ड	64
गङ्गवज्र	64, 171
गङ्गविद्याधर	64
गङ्गेगलाभरण	163
गण्डमार्तण्ड	64
गण्डराभरण	176
गिरिदुर्गमल्ल	444
गुत्तियगङ्ग	64
चगभक्षण चक्रवर्ती	308
चतुस्समयसमुद्धरण	176
चलदग्गलि	163
चलदङ्कार	163
चलदङ्कगाव	518
चलदुत्तरङ्ग	64
चालुक्याभरण	532, 568
जगदेकवीर	64, 388
देशकुलकर्णि	421
द्रोहघरट्ट	82, 136, 342, 355, 532, 538, 547
नुडिदन्ते गण्ड	64, 136
नोलम्बकुलान्तक	48, 64
पट्टणसामि	457, 547, 557
प्रचण्डदण्डनायक	175, 176
प्रताप-चक्रवर्ति	342, 348, 455, 457
बडवरबण्ट	234, 257
बिरुदरुवारि मुखतिलक	82, 135, 136, 156, 176, 547
बीररबीर	163
भव्यचूडामणि	481
भोंबेगे तप्पुव रायरगण्ड	475
भुजबलवीरगङ्ग	481, 518, 565, 571
मण्डलिक-त्रिनेत्र	64
महाप्रचण्ड-दण्डनायक	135, 136, 156, 174, 504, 532

उपाधियाँ	लेख क्रमांक
महासामन्ताधिपति	135, 136, 156, 532
माणिक्य भण्डारि	58, 71
भावन गन्धहस्ति	165
यदुतिलक	569
रट्टकन्दर्प	163
रणरङ्गभीम	571
रणरङ्गसिंग	388
राजमार्तण्ड	163
रायपात्र-चूडामणि	470
बड्डव्यवहारि	356, 377
वनगजमल्ल	64
वसुधैकबान्धव	526
वीरगङ्ग	82, 154, 162, 176, 342, 355, 444, 457, 476, 502, 547, 569
शनिवारसिद्धि	444, 571
श्रीकरणद हेग्गडे	71
श्रीपृथ्वी वल्लभ	272
षड्दर्शनस्थापनाचार्य	352
षड्धर्मचक्रेश्वर	485
संग्राम जत्तलट्ट	156, 176, 532
सत्याश्रयकुलतिलक	532, 568
समधिगतपञ्चमहाशब्द	135, 136, 156, 162, 342, 353, 374, 444 457, 476, 532, 568, 571
हिरिय दण्डनायक	518, 538
हिरिय भण्डारि	275, 342, 481
हिरिय माणिक्य भण्डारि	455

परिशिष्ट 7

शिलालेखो मे शिल्पी और सहायक

पाँच सौ से अधिक शिलालेख बिना शिल्पियो के नाम के है, फिर भी कम से कम 12 शिल्पियो और सहायको के नाम उपलब्ध हैं। प्रत्येक नाम के आगे शिला-लेख का क्रमाक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये सस्करण के आधार पर दिया गया है। नाम अकारादि क्रम से है

शिल्पी और सहायक	शिलालेख क्रमांक
कब्बरी (वादित्र)	432
कन्दाचार (सिपाही)	324
कम्मट (टकसाल का व्यक्ति)	294
चेन्नण, चेन्नण्ण—(मदिर-शिल्पी)	516, 507, 512, 513, 515, 540
दागोदाजि (जीर्णोद्धारक)	(मा च ग्र मा से प्रकाशित शिला स भाग 1, शिला क्र 434)
दासोज (मूर्तिकार)	173
देवण (कारीगर)	336
नागवर्म (मूर्तिकार)	194
बैरोज (मूर्तिकार)	539
श्रीधरवोज (मूर्तिकार)	204

परिशिष्ट 8

शिलालेखों मे वर्णित धर्मार्थ करो के नाम

पिछले तेरह सौ वर्षों मे श्रवणबेलगोल की तीर्थरक्षा, जीर्णोद्धार, पूजा अर्चना, मुनियों के आहार-दान, प्रहरियो और कर्मचारियो के वेतन तथा स्थान की सुव्यवस्था के लिए जो कर राज्य ने या तीर्थ-व्यवस्थापकों ने लगाये, शिलालेखो में उनमे से कतिपय करो के नाम निम्नलिखित सूची मे अकारादि क्रम से दिये गये हैं। लेखों के क्रमाक 'शिलालेख सग्रह भा. 1', मा च ग्रन्थमाला के अनुसार हैं।

कर का नाम	शिलालेख-क्रमांक	कर का नाम	शिलालेख-क्रमांक
अन्याय	128	नामकाणिके	434
अभ्यागते	137	न्याय	128
आलेपोम्मु	434	पट्टवेसाणिग	434
आलेसुक	434	पाशबाद	434
कटकसेस	137	पुरवर्ग	434
कब्बिणदपोम्मु	434	बसदि	137
काडारम्भ	353	बेंडिगे	434
कालबाडिगे	434	मनरवत	137
खाण	137	मनेवेरे	138
गावदेरे	138	मलबब	128, 137
गुरुकाणिके	434	येरुकाणिके	434
जातिकूट	434	हस्तिपोम्मु	434
जातिमणिय	434	हुल्लुहण	434
तिप्पेसुक	138		